बलराज साहनी

आज के साहित्यकारों से अपील

आज के साहित्यकारों से अपील

आज के साहित्यकारों से अपील
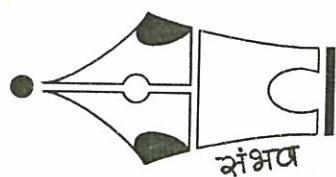
बलराज साहनी

प्रथम संस्करण
2017

प्रकाशक
संभव प्रकाशन
प्रेमचन्द पुस्तकालय
तितरम, कैथल-136027
(हरियाणा)
ई-मेल : kitabsambhav@gmail.com

मुद्रक
प्रोग्रेसिव प्रिन्टर्स, ए-21
झिलमिल इन्डस्ट्रियल एरिया
शाहदरा, दिल्ली-110095

मूल्य : 30.00

AAJ KE SAHITYKARON SE APEAL
BY BALRAJ SAHNI

भूमिका

हिन्दी सिनेमा के बड़े अभिनेता बलराज साहनी जाने-माने लेखक भी थे। अपनी प्रतिबद्धता के लिए उन्हें दर्शकों और पाठकों से अभिवादन और सराहना खूब मिली। वे इप्टा और प्रगतिशील लेखक संघ से भी जुड़े और रंगमंच के प्रति अपने लगाव से कभी अलग नहीं हुए।

यहाँ प्रकाशित, उद्बोधित और आवेगजन्य पत्र बलराज साहनी ने 1970 के आस-पास लिखा था। उन दिनों उनका पता, टर्नर रायल लेन, जुहू, मुम्बई था। एक पैम्फलेट की शक्ल में यह पत्र 1972 में दिल्ली की एक प्रेस से छपा और श्री साहनी ने उसे अपने कुछ लेखक मित्रों को भेजा। दो वर्ष तक हिन्दी की कुछ तत्कालीन पत्रिकाओं में प्रकाशन के प्रयास में असफल हो जाने के बाद बलराज साहनी ने यह निजी कार्रवाई की। वास्तव मे हिन्दी पत्रिकाओं ने इसे प्रकाशित करने से इनकार कर दिया था।

1970 के आस-पास मुम्बई में एक बड़ा उर्दू कन्वेंशन हुआ था। इसके पीछे सर्वश्री मुल्कराज आनंद, कृष्णचंदर, सज्जाद जहीर और राजेंद्र सिंह बेदी जैसे प्रसिद्ध लेखक थे। इसके बाद श्री साहनी में गहरी प्रतिक्रिया हुई। इस कन्वेंशन के बाद पर्याप्त वाद-विवाद जारी रहे। बलराज जी की यह समझ थी कि लम्बाई या विचारों की अप्रियता के कारण उनका पत्र नहीं छप सका। भाषाओं को लेकर साम्प्रदायिक सोच और अपनी सांस्कृतिक सत्ता प्रसार के बीज काफी पुराने हैं और अब वे लहलहा रहे हैं।

इस पत्र को प्रकाशित करने का एक उद्देश्य यह भी है कि हम एक लेखक, विचारक और अभिनेता के भीतर की उस बेचैनी को समझ सकें जिसका स्वागत तत्कालीन समाज में नहीं हो सका।

- ज्ञानरंजन

(प्रस्तुत पुस्तिका की सामग्री अनूठे संग्रहकर्ता और साहित्यकुबेर स्व. दिनेश शर्मा से प्राप्त हुई थी।)

कभी मेरा भी नाम हिन्दी लेखकों में गिना जाता था। मेरी कहानियाँ अपने समय की प्रमुख हिन्दी पत्रिकाओं-- विशाल भारत, हंस आदि में-- नियमित रूप से प्रकाशित हुआ करती थीं। बच्चन, अज्ञेय, अमृतलाल नागर, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, उपेंद्रनाथ अश्क-- सब मेरे समकालीन लेखक और प्रिय मित्र हैं।

मेरी शुरू की जवानी का समय था वह- बहुत ही प्यारा, बहुत हसीन। मैंने कुछ समय शान्तिनिकेतन में गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर के पास और कुछ समय सेवाग्राम में गाँधी जी के चरणों में बिताया। मेरा जीवन बहुत समृद्ध बना। शान्तिनिकेतन में मैं हिन्दी विभाग में काम करता था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मेरे अध्यक्ष थे। उनकी छत्रछाया में हिन्दी जगत के साथ मेरा सम्बन्ध दिन-प्रतिदिन गहरा होता गया। सन् 1939 के अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन में वे मुझे भी अपने संग प्रतिनिधि बनाकर बनारस ले गये थे, और वहाँ मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, बनारसीदास चतुर्वेदी, निराला और साहित्य के अन्य कितने ही महारथियों से मिलने और उनके विचार सुनने-जानने का मुझे गौरव प्राप्त हुआ।

यद्यपि आजकल मैं हिन्दी में नहीं, बल्कि अपनी मातृभाषा पंजाबी में लिखता हूँ, फिर भी आप लोगों से खुद को अलग नहीं समझता। आज भी मैं हिन्दी फिल्मों में काम करता हूँ, हिन्दी-उर्दू रंगमच से भी मेरा अटूट सम्बन्ध रहा है। ये चीजें, अगर साहित्य का हिस्सा नहीं तो उसकी निकटवर्ती जरूर हैं।

हिन्दी हमारे देश की एक विशेष और महत्त्वपूर्ण भाषा है। इसके साथ हमारी राष्ट्रीय और भावनात्मक एकता का सवाल जुड़ा हुआ है। और इस दिशा में, अपनी अनेक बुराइयों के बावजूद, हिन्दी फिल्में अच्छा रोल अदा कर रही हैं।

लेकिन इस असलियत की ओर से भी आँखें बंद नहीं की जा सकतीं कि हिन्दी, कई दृष्टियों से, अपने क्षेत्र में और उससे बाहर भी कई प्रकार से साम्प्रदायिक और प्रांतीय बैर-विरोध और झगड़े-झमेलों का कारण बनी हुई है। कई बार तो डर लगने लगता है कि कहीं एकता के लिए रास्ते साफ करने के बजाय वह उन रास्तों पर काँटे तो नहीं बिछा रही, जो हमें उन्नति और विकास के बजाय अधोगति और विनाश की ओर ले जाना चाहती है, जो हमारे पाँवों में फिर से साम्राज्यवादी गुलामी की बेड़ियाँ पहनाना चाहती हैं।

उर्दू कन्वेंशन

पिछले साल, दिसम्बर में, बम्बई में एक उर्दू-कन्वेंशन बुलायी गयी थी, जिसके सूत्रधार, डॉ. मुल्कराज आनंद, कृष्ण चंदर, सज्जाद जहीर, राजेंद्र सिंह बेदी और अली सरदार जाफरी जैसे प्रसिद्ध प्रगतिशील लेखक थे। मैं उस समय बंबई में नहीं था, सो मुझे इस बात की ज्यादा जानकारी नहीं है कि कन्वेंशन में क्या कुछ हुआ। लेकिन जब मैं वापस आया तो यह सुनकर बेहद हैरानी हुई कि हिन्दी का एक भी प्रगतिशील लेखक इस कन्वेंशन में शामिल नहीं हुआ था। ऐसे लगा, जैसे हिन्दी-उर्दू के सवाल पर प्रगतिशील लेखक संघ का, अन्दर-ही-अन्दर, उसी प्रकार बँटवारा हो चुका है, जैसे हिन्दू-मुस्लिम सवाल पर हिन्दुस्तान का बँटवारा हो चुका है। मुझे बहुत गहरी निराशा हुई।

साथ ही, इस बात पर सख्त हैरानी भी हुई कि कन्वेंशन की प्रौढ़ता बनाने के लिए सिक्ख युवकों का एक काफी बड़ा जत्था भी बंबई आया हुआ था, हालाँकि हर कोई इस बात को जानता है कि उर्दू वाले कल तक उर्दू को ही पंजाब की भाषा मानते थे, और पंजाबी को उपभाषा का दर्जा देते थे। अनायास ही मेरे मन में एक मलिन-सा संशय उठा कि कहीं उर्दू को अल्पसंख्यकों की भाषा करार देकर उसकी रक्षा के लिए अल्पसंख्यक जातियों को तो नहीं उकसाया जा रहा। कहीं उर्दू की रक्षा करने के लिए पंजाबी को केवल सिक्खों की भाषा तो नहीं बनना पड़ रहा? मन में यह घटिया विचार उठने पर मैंने खुद को फटकारा। बेशक, पंजाबी साहित्य के क्षेत्र में इस समय सिक्ख लेखक ही अधिक संख्या में हैं, लेकिन पंजाबी को सिक्खों की भाषा मानने का दावा कभी किसी ने नहीं किया। फिर, देश के इतने बड़े प्रगतिशील, मार्क्सवादी विद्वानों से कभी सपने में भी आशा नहीं की जा सकती कि वे भाषा की समस्या को साम्प्रदायिक राजनीति से जोड़ेंगे। लेकिन फिर भी रह-रह कर चिन्ता घेर लेती थी। एक बार पहले मेरा वतन पंजाब साम्प्रदायिक राजनीति की छुरी के नीचे अपना सिर दे चुका था और लाखों लोगों को व्यर्थ में कुर्बान होना पड़ा था। कहीं किस्मत एक और बरबादी की शुरुआत तो नहीं कर रही, और यह सोचकर मीठी नींद लेते रहे थे कि 'ऐसे भला कैसे हो सकता है?'

बाद में, नयी कहानियाँ में अमृतराय के दो सम्पादकीय लेख छपे। उसी पत्रिका में यशपाल, अमृतलाल नागर और नरेंद्र शर्मा आदि द्वारा उर्दू-कन्वेंशन सम्बन्धी दिये गये वक्तव्यों को पढ़कर मेरी चिन्ता और बढ़ी फिर उपलब्धि नामक पत्रिका का एक पूरा अंक इस कन्वेंशन के लिए अर्पित किया गया देखा, जिसमें डॉ. धर्मवीर और अन्य कई लेखकों के विचार पढ़ने को मिले। धर्मयुग में प्रकाशित

टीका-टिप्पणियाँ भी देखीं। मुझे लगा कि मानसिक अशान्ति केवल मेरे तक ही सीमित नहीं थी।

और आज यही मानसिक अशान्ति मुझे मजबूर कर रही है कि आपके सामने अपना दिल खोलूँ, अपने जीवन के कुछ अनुभव और विचार पेश करूँ। मैं जानता हूँ कि आप देश की भलाई, एकता और प्रगति के इच्छुक हैं, और आशा करता हूँ कि जो कुछ अच्छा-बुरा मैं कहूँगा, उसे पूरी सद्भावना से परखेंगे। अगर मेरे मुँह से कोई बुरी या नाजायज बात भी निकल जाये, तो मुझे अपना भाई या साथी समझकर माफ कर देंगे।

अब मैं अपनी बात पर आऊँ।

मेरे भाषा सम्बन्धी अनुभव :

मैं जब शान्तिनिकेतन में था, तो गुरुदेव टैगोर मुझे बार-बार कहा करते थे, 'तुम पंजाबी हो, पंजाबी में क्यों नहीं लिखते? तुम्हारा उद्देश्य होना चाहिए कि अपने प्रांत में जाकर वही कुछ करो, जो हम यहाँ कर रहे हैं।'

मैंने जवाब में कहा, हिन्दी हमारे देश की भाषा है। हिन्दी में लिखकर मैं देश भर के पाठकों तक पहुँच सकता हूँ।

वे हँस देते, और कहते, 'मैं तो केवल एक प्रांत की भाषा में ही लिखता हूँ, लेकिन मेरी रचनाओं को सारा भारत ही नहीं, सारा संसार पढ़ता है। पाठकों की संख्या भाषा पर निर्भर नहीं करती।'

मैं उनकी बातें एक कान से सुनता और दूसरे कान से निकाल देता। बचपन से ही मेरे मन में यह धारणा पक्की हो चुकी थी कि हिन्दी पंजाबी के मुकाबले कहीं ऊँची और सभ्य भाषा है। वह एक प्रांत की नहीं, बल्कि सारे देश की राष्ट्रीय भाषा है (उन दिनों देश सम्बन्धी मेरा ज्ञान उत्तरी भारत तक ही सीमित था)।

एक दिन गुरुदेव ने जब फिर वही बात छेड़ी तो मैंने चिढ़कर कहा, 'पता नहीं क्यों, आप मुझे यहाँ से निकालने पर तुले हुए हैं। मेरी कहानियाँ हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिकाओं में छप रही हैं। पढ़ाने का काम भी मैं चाव से करता हूँ। अगर यकीन न हो तो मेरे विद्यार्थियों से पूछ लीजिए। जिस प्रेरणादायक वातावरण की मुझे जरूरत थी, वह मुझे प्राप्त है। आखिर मैं यहाँ से क्यों चला जाऊँ?

उन्होंने कहा, 'विश्व भारती का आदर्श है कि साहित्यकार और कलाकार यहाँ से प्रेरणा लेकर अपने-अपने प्रांतों में जायें और अपनी भाषाओं और संस्कृतियों का विकास करें तभी देश की सभ्यता और संस्कृति का भंडार भरपूर होगा।'

'आपको पंजाबी भाषा और संस्कृति के बारे में गलतफहमी है।' मैंने कहा, 'हिन्दुस्तान से अलग कोई पंजाबी संस्कृति नहीं है। पंजाबी भाषा भी वास्तव में हिन्दी की एक उपभाषा है। उसमें सिक्ख-धर्मग्रंथों के अलावा और कोई साहित्य नहीं है।'

गुरुदेव चिढ़ गये। कहने लगे, 'जिस भाषा में नानक जैसे महान कवि ने लिखा है, तुम कहते हो उसमें कोई साहित्य नही है।'

और जब मैंने अपने जीवन में पहली बार उनके मुख से गुरु नानक की ये पंक्तियाँ सुनी :

गगन में थाल रवि चंद दीपक बने
तारक मंडल जनक मोती
धूप मलयानलो पवन चंवरो करे
सगल वनराय फूलंत जोती।...

और अगर मुझे याद धोखा नहीं देती, तो गुरुदेव ने साथ में यह भी कहा था, 'कबीर की वाणी का अनुवाद मैंने बंगाली में किया है, लेकिन नानक की वाणी का अनुवाद का साहस नहीं हुआ। मुझे डर था कि मैं उनके साथ इंसाफ नहीं कर सकूँगा।'

उसी शाम आचार्य क्षितिमोहन सेन के साथ नंगे पाँवों लम्बी सैर पर जाने का मौका मिला, जो भक्तिकाल सम्बन्धी सर्वोच्च खोजी और विद्वान माने जाते हैं। जब उनसे गुरुदेव के साथ हुई बातचीत का जिक्र छिड़ा, तो अचानक उनके मुँह से निकला, 'पराई भाषा में लिखनेवाला लेखक वेश्या के समान है। वेश्या धन-दौलत, मशहूरी और ऐशइशरत भरा घरबार सब कुछ प्राप्त कर सकती है, लेकिन एक गृहिणी नहीं कहला सकती।'

मैं मन ही मन बहुत खीझा। बंगाली लोग प्रांतीय संकीर्णता के लिए प्रसिद्ध थे। लेकिन टैगोर और क्षितिमोहन जैसे व्यक्ति भी उसका शिकार होंगे, यह मेरे लिए आश्चर्य की बात थी।

गाँधी जी के विचार

फिर मुझे एक और धक्का लगा। शान्तिनिकेतन से मुझे कुछ समय के लिए 'बुनियादी तालीम' संस्था की पुस्तकें अनुवाद करने के लिए सेवाग्राम जाना पड़ा। वहाँ गाँधी जी को निकट से देखने का मौका मिला। और यह देखकर हैरानी हुई कि वे अपना अधिकांश लेखन-कार्य गुजराती में करते थे। गाँधी जी पर मैं प्रांतीय मनोवृत्ति का दोष कैसे लगा सकता था, जबकि वे हमारी राष्ट्रीय चेतना के जन्मदाता थे? राष्ट्रभाषा 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' सबसे बड़ा प्रकाश-केन्द्र भी तो वही थे। फिर, वे

राष्ट्रभाषा को छोड़कर अपनी प्रांतीय भाषा में क्यों लिखते थे?

इस बारे में एक दिन मैं उनसे पूछ ही बैठा। मेरा सवाल सुनकर वे भौंचक्के रह गये, जैसे सोचने लगे हों कि कोई पढ़ा-लिखा व्यक्ति ऐसा बचकाना सवाल कैसे पूछ सकता है। आखिर उन्होंने कहा, मातृभाषा तो मां के दूध जैसी मीठी होती है। राष्ट्रभाषा का मनोरथ प्रांतीय भाषाओं को खत्म करना नहीं, बल्कि उनकी रक्षा करना है, उन्हें एक-दूसरी के निकट लाना और प्रेमसूत्र में पिरोना है।

मैं फिर भी न समझ सका। मेरे दिमाग में कई सवाल उठ रहे थे। गाँधी जी हिन्दी-हिन्दुस्तानी को एक सीधी-सादी और आम बोलचाल की भाषा तक सीमित रखना चाहते थे, जिसमें न तो मोटे-मोटे फारसी शब्दों का प्रयोग हो, न ही बड़े-बड़े संस्कृत शब्दों का। इसके लिए वे लिपियाँ भी दो चाहते थे-देवनागरी और फारसी। ये दोनों बातें ही मुझे अव्यावहारिक लगती थीं। हिन्दी को किस हद तक, कब तक और क्यों केवल आम बोलचाल की भाषा रखा जायेगा? उसके विकास पर क्यों बंधन लगाये जायेंगे, जबकि वे बंधन प्रांतीय भाषाओं पर नहीं लगायेजाते। राष्ट्रभाषा को तो प्रांतीय भाषाओं की अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध बनाना चाहिए। और एक भाषा के लिए दो लिपियों को परवान करना कहाँ की अक्लमंदी है?

मुझे याद है, इस समस्या के बारे में उन दिनों मेरे मन में निरन्तर उथल-पुथल मची रहती थी। मैं मौका ढूँढता रहता कि कब गाँधी जी के साथ दोबारा इस बारे में बातचीत करूँ। लेकिन वह मौका न मिला। दूसरा विश्वयुद्ध शुरू हो चुका था, और गाँधी जी राजनीतिक मामलों में बहुत ज्यादा उलझ गये थे।

एक दिन उन्हें मिलने के लिए ऑल इडिया रेडियो के अंग्रेज डायरेक्टर-जनरल, मिस्टर लाइनल फील्डन, वहाँ आये। वे हिन्दुस्तान से इस्तीफा देकर लंदन के बी. बी.सी. में हिन्दुस्तानी विभाग खोलने के लिए जा रहे थे। वे अपने तुरन्त और हँगामी फैसलों के लिए अद्वितीय थे। वे आये थे गाँधी जी को अलविदा कहने, लेकिन जाते समय मुझे अपने साथ रेडियो अनाउन्सर के रूप में लंदन ले गये।

लंदन में

उस जमाने में, रेडियो पर उर्दू का वैसा ही बोलबाला था, जैसा आज हिन्दी का है। शुरू से अन्त तक सभी काम उर्दू लिपि और उर्दू भाषा में ही किये जाते थे। और मैं इन दोनों में लगभग कोरा था। हिन्दुस्तान से चलने से पहले कई बार दिल में आया था कि फील्डन से इस बारे में खुलकर बात करूँ, लेकिन लंदन और युद्ध

को निकट से देखने का चाव मुझे रोकता रहा।

दो-तीन अनाउंसर वहाँ पहले से पहुँच चुके थे। सभी उर्दू के माहिर उस्ताद। वे हिन्दी न जानते थे, न उसे गिनती में लाते थे। उर्दू से अन्जान होने के अलावा मेरी एक और कमजोरी यह थी कि माइक्रोफोन पर बोलने का तजुर्बा भी मुझे बहुत कम था। फिर, बोलने का लहजा इतना ज्यादा पंजाबी कि अपनी पहली रिकार्डिंग सुनकर मेरे अपने कान फटने को आ गये थे। तब मेरा सारा अहंकार मिट्टी में मिल गया कि फील्डन मुझे सेवाग्राम से विशेष रूप से अपने साथ लंदन लाये थे। आखिर मैं भी उनकी नजर में खटकने लगा। फिर तो मुझे साफ दिखाई देने लगा कि वहाँ मेरा ज्यादा देर टिकना सम्भव नहीं था।

मेरा मन गुस्से और ग्लानि से भर गया। एक तो, मैंने खुद इस नौकरी की माँग नहीं की थी, बल्कि सारे आश्रमवासियों को नाराज और दुखी करके आया था। दूसरे, एक साहित्यकार के तौर पर मेरा कुछ महत्त्व था। मैं हिन्दी के पहली श्रेणी के कहानीकारों में गिना जाता था। मेरी कई रचनाएँ उर्दू में अनुदित होकर अदबे लतीफ जैसी प्रसिद्ध पत्रिकाओं में छप चुकी थीं। इस सब कुछ का क्या कोई महत्त्व नहीं था? क्या हिन्दी भाषा के अपने अधिकार नहीं थे? जिस भाषा में प्रेमचंद, जैनेंद्र कुमार, अज्ञेय, यशपाल, बच्चन, सुमित्रानंदन पंत जैसे महान साहित्यकारों ने लिखा हो, उसे इस प्रकार अवहेलना की दृष्टि से देखना क्या पहले दर्जे का अन्याय नहीं था? रहा सवाल पंजाबी लहजे का। उसे सुधारते कौन सी देर लगती है। किसी की थोड़ी मदद और अभ्यास ही की तो जरूरत है।

यह बात मुझे दिन-प्रतिदिन स्पष्ट हो रही थी कि अगर मैंने अपने बचाव के लिए खुद कोई कोशिश न की, तो बिस्तर गोल होने में ज्यादा देर नहीं लगेगी। मैं सारी-सारी रात बिस्तर पर करवटें बदलता सोचता रहता। आखिर क्या करूँ? क्यों न बी.बी.सी. के डायरेक्टर-जनरल को मिलकर अपना दुख उनके सामने रखूँ और इस घोर अन्याय का पर्दाफाश करूँ। मैं लाइनल फील्डन को मुँह की खिला सकता था। भारत के हिन्दी समर्थकों को उकसाकर उनके लिए अच्छा खासा सिरदर्द पैदा कर सकता था।

लेकिन फिर, मन में दूसरी तरह के विचार मँडराने लगते। मैं गांधी जी के चरणों से उठ कर अंग्रेजों के कदमों में गिरा था। यह कोई मामूली गिरावट नहीं थी। और अब शिकायती टट्टू बनना, अपने घर के लड़ाई-झगड़ों को दुश्मन के सामने नंगा करना, उससे न्याय की माँग करना, क्या यह शर्म से डूब मरनेवाली बात नहीं

होगी? दूसरों की इज्जत उछालते हुए क्या मेरी इज्जत रह जायेगी? इससे देश का अपमान न होगा? अंग्रेज अफसरों को मुँह माँगी मुराद नहीं मिल जायेगी? हमारी अनबन का वे पूरा लाभ नहीं उठायेंगे? फिर, लाइनल फील्डन आम अंग्रेज अफसरों जैसे नहीं थे। वे गाँधी के भक्त थे, और हिन्दुस्तान की आजादी के सच्चे चाहवान। वे वाइसराय तक को नाराज करके इस खयाल से मुझे अपने साथ ले गये थे कि मेरा व्यक्तित्व आप जी-हुजूरी करनेवाले सरकारी कर्मचारियों से कुछ अलग होगा। क्या ऐसे व्यक्ति के विश्वास को तोड़ना उचित होगा?

एक दिन मैं कैंटीन में कॉफी पी रहे अपने साथियों के सामने फूट पड़ा, 'हिन्दी के हक मनवाने का बीड़ा उठाकर मैं भी आप लोगों को उतना ही परेशान कर सकता हूँ, जितना इस समय आप मुझे कर रहे हैं। नतीजा हम दोनों के लिए बुरा होगा। फायदा होगा तो सिर्फ अंग्रेजों का। हमारी कौमी इज्जत मिट्टी में मिल जायेगी। मैं आपके आगे एक प्रार्थना करता हूँ। मगर आप लोग मेरी बेकद्री करना छोड़ दें, बल्कि मेरी मदद करें, तो मैं दिन-रात मेहनत करके थोड़े-से अरसे में ही उर्दू सीख लूँगा। उर्दू मैंने सातवीं जमात तक पढ़ी हुई भी है।'

इस सुझाव का मेरे साथियों पर बहुत अच्छा असर पड़ा। विदेश में प्रत्येक व्यक्ति की राष्ट्रीय भावना जाग उठती है। मेरे साथियों ने महसूस किया कि मैंने अच्छी और सही बात की थी। उसी दिन से उनके साथ मेरे सम्बन्ध अच्छे बन गये। सबने दिल खोलकर मेरी मदद करनी शुरू कर दी। दो-तीन महीनों में ही उर्दू में अच्छी तरह अपना काम करने लगा। पूरे चार साल मैं वहाँ रहा। इस अरसे में कभी एक बार भी अंग्रेज हमें एक-दूसरे के प्रति न भड़का सके। हमारा आपसी प्यार और भाईचारा दूसरे विभागों के लिए भी एक अच्छा उदाहरण बन गया था। वह समय बहुत अच्छा बीत गया।

उर्दू साहित्य का अध्ययन

उर्दू साहित्य का अध्ययन करने से मेरी आँखें खुल गयीं। ऐसे लगा, जैसे कोई खोया हुआ खजाना मिल गया हो। मन में समाये सभी बैर-विरोध और गलत धारणाएँ खत्म हो गयीं। कितना विशाल, कितना गौरववान था उर्दू साहित्य। गालिब की गजलें पढ़ते हुए ऐसे लगता है, जैसे मेरी आत्मा पर कोई नया सूर्योदय हो रहा हो। इसी प्रकार अद्वितीय और अविस्मरणीय आनंद कालेज के जमाने में शैली की रचना *प्रोमीथियस अनबाउंड* और शेक्सपीयर का नाटक *हेनरी फोर्थ-भाग पहला* पढ़कर आया था। ऐसी अनुभूतियाँ जीवन की पूँजी बन जाती हैं।

कितने सुन्दर लगते थे उर्दू कविता में फारसी शब्द! कितनी चुस्ती, कितनी लचक, कितनी शालीनता थी इस भाषा में! हर एक शेर में अर्थ और भाव का एक पूरा संसार सिमटा होता था, जैसे बूँद में सागर समा गया हो। अब तक मैं प्रेमचंद को हिन्दी का लेखक मानता था, तब ज्ञात हुआ कि वे उर्दू लेखक कहलाने के और भी ज्यादा हकदार थे। मुझे विश्वास हो गया कि हिन्दी और उर्दू को अलग-अलग भाषाएँ कहना सरासर गलती है। दोनों एक ही भाषा के दो रूप हैं। दोनों एक-दूसरे के बिना न जी सकती हैं, न फलफूल सकती हैं। इसके बारे में सही दृष्टिकोण वही है जो प्रेमचंद का था- दोनों को जानना, दोनों में लिखना, दोनों को लोक-जीवन और बोल-चाल की भाषा के निकट लाना, दोनों को एक-सा प्यार करना। यहाँ नफरतों का कोई काम नहीं था। उर्दू का अच्छा लेखक बनने के लिए हिन्दी का ज्ञान जरूरी था और हिन्दी का अच्छा लेखक बनने के लिए उर्दू का। इस असलियत को नजरअन्दाज करना वैसा ही होगा जैसा कोई आदमी अपनी दोनों आँखें इस्तेमाल करने के बजाए एक आँख बंद कर ले।

रोजगार की मजबूरी ने मुझे अपनी दूसरी आँख खोलने का मौका दिया था। लेकिन मेरे साथियों को ऐसी कोई मजबूरी पेश नहीं आयी थी। इसलिए उन्हें अपने अभाव का कोई अहसास नहीं था। लिखने या बोलने में संस्कृत का कोई अहसास नहीं था। लिखने या बोलने में संस्कृत का कोई आसान-सा शब्द मुझसे इस्तेमाल हो जाता, तो वे नाक मुँह चिढ़ाने लगते, और उसका मजाक उड़ाते। उन्हें बिल्कुल यह अहसास नहीं था कि उन्होंने अपनी एक आँख बंद की हुई थी। उन पर मुझे गुस्सा भी आता, और तरस भी।

हिन्दी और उर्दू शैलियाँ

अब हिन्दी और उर्दू शैलियों में मुझे इकहरेपन और अधूरेपन का दोष नजर आता था। जहाँ हिन्दी वाले अंधाधुंध संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते हुए कच्ची और कंकरों भरी खिचड़ी पकाते थे : जिसे ग्रियर्सन ने 'बास्टर्ड मिक्सचर ऑफ संस्कृत एण्ड बर्नेकुलर' कहा है : वहाँ उर्दू वाले अपना जोर लताफत और मुहावरेबाजी पर जाया कर देते थे, जैसे उनकी नजर में 'क्या कहना है' से अहमियत ज्यादा 'कैसे कहना है' की हो। हिन्दी वाले इस धोखे का शिकार थे कि वे साहित्य को मुस्लिम सामन्तवादी संस्कारों से मुक्त करा रहे हैं। और उर्दू वाले इस वहम के मरीज थे कि जो कुछ भी भारतीय है, वह घटिया है, और जो कुछ फारसी या अरबी द्वारा आया है, उसी में साहित्यिक महानता है।

हिन्दी वालों के इस आरोप में मुझे कुछ सच्चाई प्रतीत होती थी कि उर्दू साहित्य पतनोन्मुख सामन्तवादी और दरबारी संस्कारों के नीचे दबा हुआ था और जनसाधारण के जीवन से उनका सम्बन्ध टूट चुका था। उनका दावा था कि वे इस सम्बन्ध को फिर से कायम कर रहे थे।

इरादा बड़ा नेक था, लेकिन उसे पूरा करने का जो तरीका अपनाया गया था, वह बहुत अजीब था। फारसी की जगह संस्कृत के शब्द प्रयोग करके क्या वे भाषा या साहित्य को जनता के निकट ला रहे थे, या उसे और भी परायी और कठिन बना रहे थे? फिर अपने समय में संस्कृत भी तो सामन्तवादी और दरबारी संस्कारों से लदी हुई भाषा थी। आम लोगों में उसे बोलने की योग्यता नहीं थी, यहाँ तक कि उन्हें उसे बोलने की इजाजत भी नहीं थी। मनु महाराज के कथानुसार तो रानियों-महारानियों को भी संस्कृत बोलने की इजाजत नहीं थी। कालिदास, भवभूति आदि के नाटक पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इसलिए तो महात्मा बुद्ध ने जनता के निकट होने के लिए संस्कृत के बजाय पाली और प्राकृत को अपनाया था। सो, आज के जमाने में भाषा को जनता के निकट लाने के लिए क्यों संस्कृत की इतनी जरूरत पेश आ गयी है?

वैसे, उर्दू भाषा की सारी पृष्ठभूमि नवाबी नहीं थी। बादशाहों की फौजें हिन्दुस्तान भर में चक्कर लगाती थीं। उन फौजों के लोग भानुमती का कुनबा होते थे-कोई पठान, कोई राजपूत, कोई तुर्क, कोई हब्शी। मेरठ-दिल्ली के आसपास की बोली में, जिसे खड़ी बोली कहा जाता था, वे लोग अपनी मूल भाषाओं के शब्द इस्तेमाल करके अपना काम चलाते थे। उर्दू का जन्म इसी प्रकार हुआ तो कहा जाता है।

यह लश्करी बोली, जिसे हिंदवी भी कहते थे, काफी समय तक सभ्य समाज में प्रवेश नहीं पा सकी थी। ब्रज और अवधी ही, जिन्हें आज उपभाषाओं का स्थान दे दिया है, उस समय की उन्नत साहित्यिक भाषाएँ थीं। अधिकांशतः उन्हीं में काव्य रचनाएँ होती थीं। कवि हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। मलिक मुहम्मद जायसी ने *पद्मावत* की रचना की। उनसे प्रेरणा लेकर तुलसीदास ने *रामचरितमानस* लिखना शुरू किया। अमीर खुसरो, रहीम, सूरदास, मीराबाई और अन्य कितने ही महान कवि इन भाषाओं में लिखते रहे। यही इस समय का हिन्दी साहित्य था- वास्तविक अर्थों में जनवादी साहित्य।

लेकिन शाही हल्कों में उर्दू को धीरे-धीरे इज्जत मिलने लगी थी। अपनी पहले की मातृभाषाओं के साथ रिश्ता कायम रखना नवाबों-बादशाहों के लिए भी मुश्किल होता जा रहा था। उन्हें भी तो हिन्दुस्तान में रहते हुए पुश्तें बीत गयी थीं, सो कहाँ

तक तुर्की-फारसी को उठाये फिरते? जब अच्छे कवियों ने वही आनन्द 'खड़ी बोली' में पैदा करके दिखाया, तो उच्च वर्ग की मानसिक भूख पूरी हो गयी। उच्च वर्ग की सरपरस्ती हासिल होते ही खड़ी बोली के लिए उन्नति और विकास के ऐसे नये रास्ते खुल गये, जिनकी कभी कल्पना भी नहीं की गयी थी। देखते-देखते फारसी लिपि में लिखी जाने वाली खड़ी बोली अमूल्य साहित्य से मालामाल हो गयी।

शहरों में धीरे-धीरे इस बोली का आम रिवाज हो गया। ब्रज, अवधी आदि भाषाएँ घरेलू और देहाती जीवन से जोड़ दी गयीं। और जब सामन्तवाद के पतन का समय आया तो विलासमय और रूपसारवादी रुचियाँ उर्दू शायरी का 'सिंगार' बनने लगीं। लेकिन इस दौर में भी सौदा, मीर, आतिश, नजीर, ताबाँ और दूसरे उच्च कोटि के कवियों ने इस घटिया प्रवृत्ति की ओर से मुँह मोड़कर साहित्य में उत्तम उदार, मानवतावादी मान मर्यादाएँ कायम रखीं। सच तो यह है कि इन महान कवियों ने राजनीतिक पतन के दौर को साहित्यिक उत्थान का दौर बना दिया। उनकी कविता जनसाधारण को हमेशा प्रिय रही है और रहेगी।

गालिब के पत्र, साहित्य और इतिहास का अमूल्य खजाना हैं। उन्हें पढ़कर मुझे पता चला कि उर्दू के सर्वश्रेष्ठ कवि मिर्जा गालिब को सामन्तवादी व्यवस्था और साहित्य के बनावटी मानमूल्यों से कितनी नफरत थी। बरतानवी पूँजीवादी सभ्यता, और राजा राममोहन राय जैसे प्रगतिशील विचारकों के सम्पर्क में आने से उनका साहित्यिक दृष्टिकोण बहुत बदल गया था। वे कविता के गहन सामाजिक कर्तव्य के प्रति सचेत हुए थे और नयी पीढ़ी के कवियों के लिए नये रास्ते बना गये थे।

कुछ इसी प्रकार की भावना ने ही मिर्जा गालिब के समकालीन भारतेंदु हरिश्चंद्र जैसे वर्तमान हिन्दी साहित्य के कर्णधारों को भी प्रेरणा दी होगी। उन्होंने उर्दू से खड़ी बोली और ब्रज-अवधी से नागरी लिपि लेकर दो लोकप्रिय परम्पराओं का सुमेल कराना चाहा होगा।

लेकिन अफसोस, इन प्रगतिशील प्रवृत्तियों को विकसित होने का मौका नहीं मिला। उनके सिर उठाने की देर थी कि बरतानवी साम्राज्य ने उन्हें कुचलना शुरू कर दिया।

लंदन में मेरे एक बहुत विद्वान बंगाली दोस्त थे। वे कभी पिस्तौलबाज इंकलाबी भी रह चुके थे। एक दिन उन्होंने बहुत महत्त्वपूर्ण बात बताई।

उन्होंने बताया कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी का असर-रसूख शुरू में हिन्दुस्तान के तटवर्ती इलाकों में पैर जमाने के बाद ही मध्यवर्ती इलाकों में फैला था। शुरू-शुरू में अंग्रेजों को कोई अनुमान नहीं था कि एक दिन वे हिन्दुस्तान के मालिक बन

जायेंगे। उनकी नीति व्यापार और छीना-झपटी तक ही सीमित थी। इस दौर में वे हिन्दुस्तानियों के साथ बराबरी का सलूक करते थे। हिन्दुस्तान के 'ऐश्वर्य, सभ्यता और संस्कृति से वे बहुत प्रभावित हुए थे। देश की विभिन्न भाषाओं को वे बड़े शौक से सीखते थे, और अपना रहन-सहन भी हिन्दुस्तानी नवाबों जैसा बनाने की कोशिश करते थे। इस प्रारम्भिक मेल-मिलाप और आदान-प्रदान का नतीजा तटवर्ती इलाकों-बंगाल, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडू, मालाबार, महाराष्ट्र, गुजरात आदि के लिए बहुत अच्छा निकला। नवीन यूरोपीय सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान का प्रभाव ग्रहण करके उनकी अपनी राष्ट्रीय भावना का बहुत विकास हुआ। उनकी भाषाएँ, धार्मिक भेदभाव से दूषित हुए बिना अलग-अलग प्रांतीय भाषाओं के रूप में परवान हो गयीं।'

बर्तानवी सरकार की भूमिका

लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे या चौथे दशक तक सारा हिन्दुस्तान अंग्रेजों के कब्जे में आ गया। अंग्रेजों ने उस पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। अब, खासकर 1857 के गदर के बाद, उनके रवैये में इंकलाबी तबदीलियाँ आयीं। हिन्दुस्तानियों से बराबरी का सलूक करना वे अपनी शान के खिलाफ समझने लगे। तार, समुद्री जहाजों और रेल के आविष्कारों ने उन्हें दूर होते हुए भी अपने देश, इंग्लैंड के साथ जुड़े रहने की सहूलियत दी। अपनी साम्राज्यवादी पकड़ मजबूत रखने के लिए उन्होंने ऐसी देशव्यापी अफसरशाही का आविष्कार किया, जो जनता की पहुँच से दूर और निर्लिप्त रहकर कमाल की अक्लमंदी और सलीके से शासन-चक्कर चलाये, बाहर से हिन्दुस्तानियों का हितैषी और पालक होने का दिखावा करे, लेकिन अन्दर से साम्राज्यवादी हितों की रक्षा करे। इस प्रकार भारतीय भाषाएँ और संस्कृतियाँ नगण्य बन गयीं, उन सब पर राज्य भाषा, अंग्रेजी की छाया पड़ने लगी। उनके बारे में जो भी फैसले किये जाते, वे बरतानवी हितों को सामने रखकर बड़ी सूक्ष्म दृष्टि, खोज और अनुभव के आधार पर किये जाते।

इस नयी परिस्थिति का सबसे गहरा और घातक असर उन प्रांतों पर पड़ा जो अंग्रेजों के कब्जे में बाद में आये। वे मध्यवर्ती और उत्तरी इलाके थे- उत्तर प्रदेश, पंजाब आदि। इन इलाकों में यूरोपीय प्रभाव अभी बिल्कुल नये थे।

बंगालियों द्वारा बंगाली को अपनी साझी प्रांतीय भाषा मानने में अंग्रेजों को कोई संकोच नहीं हुआ था। लेकिन जब पंजाब की भाषा का सवाल आया तो उन्होंने बड़ी दूरदर्शिता से काम लेकर, सिख-राज्य की प्राप्तियों को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए, पंजाबी के बजाय उर्दू को पंजाब की भाषा माना, क्योंकि पंजाब में मुसलमान

बहुसंख्या में थे। इस प्रकार भाषा की समस्या को धर्म से जोड़कर उन्होंने पहले दिन से ही पंजाब के सामाजिक जीवन में साम्प्रदायिकता के जहरीले बीज बो दिये। पंजाबियों की साझी कौमियत को नये युग में आँखें खोलने का मौका ही न मिला।

लगभग यही तरीका उन्होंने उत्तर प्रदेश और केन्द्रीय भारत में इस्तेमाल किया। भाषा और संस्कृति की समस्याओं को धर्म के साथ जोड़कर उन इलाकों में भी उसी प्रकार के गुल खिलाये। गदर के बाद, बीस वर्ष तक मुसलमानों को कुचला और हिन्दुओं को ऊपर उठाया। हिन्दुओं के सामने यह प्रकट किया कि उनकी अधोगति का मूल कारण अंग्रेज नहीं बल्कि म्लेच्छ मुसलमान हैं जिन्होंने भारत की महान और संसार की सबसे प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को भ्रष्ट किया था। फारसी लिपि और फारसी शब्द वास्तव में हिन्दू समाज की गिरावट और गुलामी के चिन्ह थे। हिन्दुओं का अपना सच्चा विरसा था- आर्यकाल, अर्थात देव भाषा संस्कृत और देव लिपि नागरी, जिन में कि वेदों और शास्त्रों की रचना हुई थी। संस्कृत ही यूरोप की भाषाओं का भी मूल स्रोत थी। सो, अगर हिन्दू जाति अपने गौरवमय अतीत को पहचाने तो भारतवर्ष फिर से एक महान देश बन सकता है। हिन्दुओं को अपना चरित्र उस जमाने के आदर्शों के अनुसार ढालने की जरूरत है, जब भारत मुस्लिम प्रभावों से मुक्त था। इस काम में अंग्रेजों ने हिन्दुओं को अपनी पूरी सहायता देने का वचन दिया।

फिर सन 1870 के बाद, जब हिन्दुओं को प्रोत्साहन देने का सौदा महँगा पड़ता दिखाई दिया तो बरतानवी साम्राज्य ने बहुसंख्यक हिन्दुओं के उलट अल्पसंख्यक मुसलमानों के सहायक और रक्षक होने का रोल अदा करना शुरू कर दिया। उन्होंने जिस प्रकार हिन्दुओं की कल्पना को वैदिककाल की ओर दौड़ाया था, वैसे ही मुसलमानों के विचारों का रुख करबला और काबा की ओर मोड़ना शुरू किया। उन्होंने बताया कि मुसलमानों के लिए हिन्दुस्तान को अपनी जन्मभूमि के रूप में नहीं, बल्कि अपने खोये हुए राज्य के रूप में देखना अधिक स्वाभाविक है। उनका वास्तविक भावनात्मक सम्बन्ध उस धरती से होना चाहिए, जहाँ उनका दीने-इस्लाम अस्तित्व में आया था। उन्होंने हिन्दुस्तान को अपनी अलौकिक महानता और बाहु-शक्ति से जीता था। सो, यहाँ वे गुलाम बनकर नहीं रह सकते; खासकर उन काफिरों के गुलाम बनकर, जो कल तक उनके अपने गुलाम थे। फारसी और अरबी लिपि और शब्दावली इस्लामी महानता और गौरव की निशानी हैं। मुसलमान मरते दम तक उनकी रक्षा करते रहेंगे।

इन परिस्थितियों में 'हिन्दू कौम' और 'मुस्लिम कौम' के नामुराद सिद्धान्त का पैदा होना कोई अनोखी बात नहीं थी। दो कौमों के सिद्धान्त को जन्म देने का

सेहरा मिस्टर जिन्ना के सिर पर बाँधना अन्याय है। इसका आविष्कार सबसे पहले बंकिम बाबू के जमाने में बंगाल के सुशिक्षित हिन्दू मध्यवर्ग में हुआ था। 'हिन्दू कौम' और 'हिन्दू राष्ट्र' के निर्माण की घोषणाएँ सबसे पहले इसी वर्ग के लोगों ने शुरू की थीं।

सच तो यह है कि बंगाल और महाराष्ट्र के आतंकवादी क्रान्तिकारी भी इस संकुचित और साम्प्रदायिक मनोवृत्ति से मुक्त नहीं थे। बंगाल के क्रान्तिकारियों की सबसे बड़ी गुप्त संस्था, 'अनुशीलन समिति' के विधान में साफ लिखा गया था कि मुसलमान एक घटिया कौम है। 'समिति का आदर्श हिन्दू जाति का राज्य स्थापित करना है। क्रान्तिकारियों को मुस्लिम म्लेच्छों से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। यद्यपि उनके साथ बुरा व्यवहार नहीं करना चाहिए, लेकिन फिर भी उनसे दूर ही रहना चाहिए।' वीर सावरकर और भाई परमानंद जैसे व्यक्ति कट्टर देशभक्त होने के साथ कट्टर साम्प्रदायिकतावादी भी थे। इस में उन्हें कोई अन्तर्विरोध दिखाई नहीं देता था। हिन्दू महासभाई आन्दोलन बहुत हद तक इसी प्रकार की विचारधारा का परिणाम है।

मुझे अपने बंगाली दोस्त की इन बातों में काफी सच्चाई दिखाई दी और अपने दिमाग की कई गाँठें खुलती हुई प्रतीत हुईं। अब मुझे अहसास हुआ कि मैं टैगोर और गाँधी जी के दृष्टिकोणों को समझने में क्यों असमर्थ रहा था। वे हिन्दुस्तान के तटवर्ती इलाकों में जन्मे-पले थे। उनके दिल में अपनी मातृभाषा और संस्कृति सम्बन्धी संस्कार स्वाभाविक ढंग से प्रफुल्लित हुए थे और सच्ची राष्ट्रीयता की ओर विकास कर रहे थे। लेकिन मैं शुरू से ही साम्प्रदायिक संस्कारों में पला था। पंजाबियत और हिन्दुस्तानियत, दोनों के बारे में मेरे विचार अधूरे और विकृत थे। मातृभाषा और राष्ट्रभाषा सम्बन्धी उन महापुरुषों का दृष्टिकोण यथार्थवादी और सही था। लेकिन मैं अर्थ का अनर्थ कर रहा था। किसी ने सच कहा है कि 'जिसका दिमाग गुलाम हो जाये, उससे बड़ा दुनिया में और कोई गुलाम नहीं है।'

पंजाब की स्थिति और मेरे संस्कार

मैं अपने अन्दर गहराई से देखने के लिए मजबूर हुआ। मैं सोचने लगा कि पंजाबी होते हुए भी मैं हिन्दी में क्यों लिखता हूँ। इसका कारण मेरे सामने आया। मेरे पिता जी आर्यसमाजी थे। उन्होंने खुद हिन्दी कभी नहीं सीखी थी, न ही वे संस्कृत जानते थे। उनकी धार्मिक पत्रिका, 'आर्य गजट' भी हर हफ्ते उर्दू में छपकर आती थी। हिन्दू-हितों के रक्षक 'मिलाप' और 'प्रताप' समाचार-पत्र भी उर्दू में ही अपनी नफरत

उगलते थे।

मेरे पिताजी की उर्दू की लिखावट कातिबों की लिखावट को मात करती थी। फारसी भी वे खूब जानते थे और उसे दिल से प्यार करते थे। 'गुलिस्ताँ' और 'बोस्ताँ' के हवाले देकर हमें उपदेश देने का उन्हें खास शौक था। फिर भी, अपनी संतान को उर्दू और फारसी की शिक्षा देना उन्हें अच्छा नहीं लगा। मुझे पहले-पहल स्कूल में दाखिल कराने के बजाये उन्होंने एक गुरुकुल में डाला जहाँ पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्र उसी प्रकार रटाये जाते थे जैसे मस्जिदों में मौलवी बच्चों को कुरान शरीफ की आयतें रटाते थे।

मेरे पिताजी के चरित्र में अजीब किस्म के अन्तर्विरोध थे। हमारे मुहल्ले के हिन्दुओं-सिक्खों के चार-पाँच घरों को छोड़कर बाकी सब घर मुसलमानों के घर थे। अपने पड़ोसी मुसलमानों के साथ पिताजी का बहुत गहरा और सच्चा प्यार था। लेकिन घर की चारदीवारी के अन्दर वे हमेशा मुसलमानों की निन्दा करते। उनके लिबास, खुराक, रहन-सहन, रीति-रिवाज-सब की कटु आलोचना करते। उन्हें इस बात का कोई अनुमान नहीं था कि हमारे कोमल दिलों में इस किस्म की आलोचना का कितना गहरा असर पड़ सकता है और हमारी अपनी दोस्तियाँ किस हद तक खराब हो सकती हैं। स्कूल और कॉलेज के जीवन में मैं जब भी मुसलमान लड़कों से दोस्ती करता, यह संस्कार मेरे और उनके बीच में हमेशा एक अदृश्य-सी दीवार बन जाते, जिसे हजार कोशिशें करने पर भी मैं तोड़ न सकता। मेरी दोस्तियों को ग्रहण-सा लग जाता। उर्दू को दिल से प्यार करने पर भी, मेरे पिता उसे घटिया भाषा कहते। हिन्दी-संस्कृत न जानते हुए भी वे उन भाषाओं की प्रशंसा में झूमने लगते। इससे उन्हें धार्मिक तृप्ति मिलती।

इस पृष्ठभूमि के सामने मैं कैसे कह सकता था कि मेरा हिन्दी में लिखना एक स्वाभाविक कर्म था? मैं समझता हूँ कि यदि कृशनचंदर के पिता के दिल में भी वही अन्तर्विरोध होता, तो वे भी उर्दू के बजाय हिन्दी के लेखक बनते। पता नहीं कि राजेंद्र सिंह बेदी के पिता के अन्तर्विरोध कैसे थे कि सिक्ख होते हुए भी पंजाबी लेखक न बन सके। अजीब गोरखधंधा था यह मेरी पीढ़ी के बुद्धिजीवियों के लिए!

मैंने देखा कि मानसिक तौर पर साम्प्रदायिकता से स्वतंत्र होने पर भी मेरे लिए उससे छुटकारा पाना मुश्किल था, क्योंकि उसकी जड़ें मेरे अवचेतन मन में फैली हुई थीं। उर्दू को घटिया, पराई और अपवित्र भाषा समझने के संस्कार होश सम्भालने से पहले ही मेरे मन में बो दिये गये थे।

सो, हैरानी की क्या बात है, अगर मेरे बी.बी.सी के साथियों के मनों में भी

हिन्दी के विरुद्ध उतने ही गहरे संस्कार भरे हुए थे! वे हिन्दी को इसलिए नफरत नहीं करते थे कि वह बुरी थी, बल्कि इसलिए कि उसमें से उन्हें हिन्दूपन की बू आती थी। इसके बावजूद वे खुद को साम्प्रदायिकता से बिल्कुल मुक्त समझते थे।

शुक्र है ईश्वर का कि कम-से-कम मेरे अपने विचार गुलामी से छुटकारा पा गये थे। अब मैं न हिन्दी-उर्दू को कभी दो भाषाएँ मानने के लिए तैयार था, न ही राष्ट्रभाषा के मुकाबले में अपनी मातृभाषा को घटिया समझने के लिए ही तैयार था।

इस बात का सबूत मुझे कदम-कदम पर मिलने लगा कि उर्दू-हिन्दी मेरे लिए पराई भाषा है। मैं अपने लहजे में से 'पंजाबियत' को निकालने की काफी कोशिश करता था, लेकिन फिर भी यू.पी. वालों के सामने बोलते हुए मेरी जबान को जैसे ताला लग जाता था। यही हालत मैं उर्दू जाननेवाले अपने दूसरे पंजाबी साथियों की देखता था। मैं तो खैर उर्दू के क्षेत्र में फिर भी नया था, लेकिन मेरे दूसरे साथियों की तो उम्रें गुजर गयी थीं। लिखते या माईक पर बोलते समय वे दिल्ली-लखनऊ के अच्छे से अच्छे विद्वानों और वक्ताओं को मात कर देते थे, लेकिन जब कभी उनके साथ मिलकर बैठते तो बहुत सम्भल-सम्भलकर मुँह खोलते। अपनी शर्म को छिपाने के वे कई तरीके जानते थे, जिन्हें यू.पी. वाले तो न भाँप सकते, लेकिन मैं घर का भेदी, झट भाँप जाता। मैं यह भी देखता कि उन्होंने मुझे भाँपते हुए देख लिया है। लेकिन इस असलियत को हम एक दूसरे के सामने कबूल नहीं करते थे। मेरे साथियों को यू.पी. वालों के सामने पंजाबी भाषा के उच्चारण और संस्कृति का मजाक उड़ाने में भी कोई शर्म महसूस नहीं होती थी, लेकिन अब मेरे अन्दर का गर्व जाग उठा था। आखिर इस हीनभाव की क्या जरूरत है? मैं सोचता। हम पंजाबी आपस में तभी पूरी तरह खुलते, जब कोई भी अंग्रेज या यू.पी. वाला हमारे बीच में न होता। तब हमारा रंग और ही होता। ऐसे मौकों पर यू.पी. वालों या अंग्रेज का मजाक उड़ाकर हमें खास तौर पर मजा आता, जैसे कि मालिक की पीठ के पीछे नौकर उसकी नकलें उतारने लग जाते हैं। हमारे मन का बोझ उतर ही जाता।

मार्क्सवादी विचारधारा

लंदन में जो एक और प्रभाव मुझ पर पड़ा, उसका उल्लेख करना भी जरूरी है। वह था मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव। जब सिर पर बम बरस रहे हों तो आदमी खुद को राजनीति से दूर नहीं रख सकता। वह जानना चाहता है कि यह बम क्यों बरस रहे हैं, लड़ाइयाँ क्यों होती हैं और मानवीय मूल्यों का जनाजा क्यों निकलता है। यद्यपि मैंने मार्क्स या लेनिन की कोई पुस्तक नहीं पढ़ी थी, फिर भी

जज्बाती तौर पर मैं मार्क्सवादी सिद्धान्त के बहुत निकट आ गया था।

युद्ध समाप्त होने से लगभग एक साल पहले मैं हिन्दुस्तान लौट आया, और बंबई में फिल्मों में काम करने लगा। देश की हालत बड़ी हँगामी थी : सबसे बड़ी तब्दीली यह देखने में आ रही थी कि गाँधी जी का हिन्दू-मुस्लिम एकता का सपना टूटने पर आया हुआ था। मुसलमान बड़ी तेजी से कांग्रेस छोड़कर लीग के झंडे के नीचे जमा हो रहे थे। अब खुलेआम हिन्दी हिन्दुओं की और उर्दू मुसलमानों की भाषा बनती जा रही थी।

कम्युनिस्ट पार्टी, कांग्रेस और लीग दोनों को मिलाकर अंग्रेजों से टक्कर लेने के लिए ललकार रही थी। इस बात का जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ रहा था, क्योंकि आजादी की तड़प हर किसी के दिल में बहुत तीखी थी। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का दुरुपयोग नहीं हो रहा था। कम्युनिस्ट पार्टी और मुस्लिम लीग के दृष्टिकोणों में जमीन-आसमान का फर्क था, लेकिन पार्टी के, मेरे जैसे, राजनीतिक तौर पर अनपढ़ और अपरिपक्व कर्मचारी जब इंकलाबी जोश में आकर अपने विचारों का प्रचार करते तो यह फर्क धुंधला पड़ जाता। ऐसे लगता, जैसे कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस और लीग दोनों को एक ही गज से नाप रही हो। पार्टी का नारा था : 'आजाद हिन्दुस्तान में आजाद पाकिस्तान।' लेकिन कांग्रेस के हिमायतियों को ऐसे लगता, जैसे कम्युनिस्ट भी लीग की तरह देश के बँटवारे का समर्थन कर रहे हैं। ख्वाजा अहमद अब्बास जैसे बुद्धिमान व्यक्ति इस अस्पष्टता के खतरों से परिचित थे और इस बारे में कामरेडों की सख्त आलोचना करते थे। लेकिन जज्बात की बाढ़ में मैं इन बारीकियों को नजरअंदाज कर देता था। मैं सोचता कि पार्टी का सारा जोर जनता की एकता और साम्राज्यवाद के खिलाफ साझा मोर्चा बनाने पर लग रहा है। जब इरादा नेक है तो उसका नतीजा बुरा कैसे हो सकता है?

हाँ, लेकिन जब मैं 'प्रगतिशील लेखक संघ' की बैठकों में जाता तो मेरा दिल बैठ सा जाता था। मैं देखता कि वहाँ भी हिन्दी और उर्दू के सवाल पर लेखक दो हिस्सों में बँट रहे थे। मैं सोचता कि मार्क्सवादियों का काम है, इस नकली भेद की दीवार को तोड़ना, न कि उसे परवान करना।

आखिर, जो किस्मत को मंजूर था, वही होकर रहा। धर्म के नाम पर देश का भी बँटवारा हुआ और जबान का भी। पंजाब और उत्तर प्रदेश, दोनों जगह, जहाँ बरतानवी साम्राज्य साझी भाषा और संस्कृति के विकास को रोकने में सबसे ज्यादा सफल हुआ था, हैवानियत के सबसे ज्यादा घृणित करिश्मे देखने में आये। बँटवारा बंगालियों का भी हुआ था, वे आपस में लड़े भी थे, अल्पसंख्यक लोगों पर वहाँ भी कम जुल्म नहीं

हुआ था, लेकिन साझी भाषा और संस्कृति ने आँख की शर्म किसी हद तक कायम रहने दी थी। वे बिल्कुल ही भूल नहीं गये थे कि वे मनुष्य हैं, हैवान नहीं।

देश के बँटवारे ने मुझे महसूस कराया कि पराई शह पर मूँछें मुँडवाने के शौक में हम पंजाबियों ने ख्वामख्वाह अपना घर बरबाद कर लिया है। हमने अपने सदियों से चले आ रहे रिश्ते-नाते तोड़ डाले, और एक दूसरे के लिए पराये बन गये। मेरा हिन्दी-उर्दू को अलविदा कहकर अपनी मातृभाषा की शरण में आने का अन्तिम कारण यही अहसास था। मुझे पता था कि हिन्दी और उर्दू दोनों क्षेत्रों में पहली कतार के लेखक पंजाबी थे-- कृशनचंदर, फैज अहमद 'फैज', यशपाल, मंटो। यह सभी प्रसिद्धि की चोटी पर पहुँचे हुए थे। लेकिन ऐसी प्रसिद्धि की अब मेरी नजर में कोई कीमत नहीं रह गयी थी।

आज की स्थिति

आज बीस वर्ष हो गये हैं इस बात को। मुझे अपने फैसले पर तनिक भी अफसोस नहीं हुआ है, बल्कि मैंने इससे सच्ची रूहानी आजादी का स्वाद चखा है। पूरी आजादी से सोचने, लिखने और पढ़ने का ढँग सीखा है। अपने पंजाबी लोगों को 'यार और इज्जत की नजर से देखने लगा हूँ, इसलिए सारे हिन्दुस्तान के लोगों को जानने और उनके साथ प्यार बँटाने का चाव दिल में जाग उठा है। हिन्दी में सिर्फ़ कहानियाँ लिखकर खुश था, अब पंजाबी में कविता, नाटक, उपन्यास और अन्य कई क्षेत्रों में हाथ आजमाने लगा हूँ, कभी गुजराती-मराठी में, कभी हिन्दी-संस्कृत में, और कभी उर्दू-फारसी में। यहाँ तक कि अंग्रेजी में लिखने में भी संकोच नहीं होता। ईश्वर ने चाहा तो कभी तमिल और मलयालम में भी लिखने लगूँगा।'

इस व्यक्तिगत अनुभव ने ही नहीं, बाहरी घटनाओं ने भी मेरे फैसले की पुष्टि की। इन बीस वर्षों में साम्प्रदायिकता विरोध के बावजूद, पंजाबी भाषा हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं की तरह, अपना अधिकार प्राप्त कर पायी है। और पाकिस्तान से आनेवाली खबरें भी इसी प्रकार की अच्छी सम्भावना का सन्देश ला रही हैं।

उर्दू पाकिस्तान की किसी भी कौम की मातृभाषा नहीं है। उर्दू के हिमायती बनने से पाकिस्तानी पंजाबियों को आर्थिक लाभ बेशक हुआ हो, लेकिन रूहानी नुकसान बहुत बड़ा झेलना पड़ा है। न सिर्फ़ उनके कलात्मक और सांस्कृतिक विकास में रुकावट पड़ी है, बल्कि अपने राष्ट्रीय भाईचारे में भी वे ईर्ष्या और द्वेष के पात्र बने हैं। यह खुशी की बात है कि उर्दू सारे पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा बने। लेकिन उसकी असली टकसाल दिल्ली-लखनऊ ही है, और वही रहेगी। इस असलियत को

दुनिया की कोई ताकत नहीं बदल सकती। और न ही पाकिस्तान में उर्दू- पंजाबी को हमेशा के लिए उसे अपने घर में बेघर कर सकती है।

भाषा को धर्म के साथ जोड़ने की नापाक साम्राज्यवादी साजिश को पाकिस्तान में बंगालियों ने और हिन्दुस्तान में तमिलनाडियों ने करारी चोट लगायी है। बंगाली मुसलमानों ने उर्दू को स्वीकार करने से इन्कार करके उसके इस्लामी भाषा होने का दावा हमेशा के लिए रद्द कर दिया है। इसी प्रकार तमिलनाडु के हिन्दुओं ने हिन्दी को सब हिन्दुओं की भाषा न मानकर इस दकियानूसी सिद्धान्त का जनाजा निकाल दिया है। यह समय की जीत है। इस पर किसी लोकवादी देशभक्त को अफसोस नहीं करना चाहिए, बल्कि शुक्र मनाना चाहिए कि साम्प्रदायिक जहर किसी हद तक हमारे अन्दर से खारिज हुआ है। इस जहर से पूरी तरह छुटकारा पाकर ही हम देश के सामने आयी किसी गम्भीर समस्या का हल खोज सकते हैं।

उपरोक्त घटनाओं ने मेरा यह विश्वास भी दृढ़ कर दिया है कि पाकिस्तान की कौमी जबान या हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा बनने से पहले उर्दू-हिन्दी को, बंगाली या पंजाबी की तरह, किसी विशेष इलाके या जाति की मातृभाषा बनना पड़ेगा। आज नहीं तो कल, समय यह असलियत भी मनवाकर रहेगा।

खड़ी बोली

हिन्दी-उर्दू का मूल आधार है, खड़ी बोली। ब्रज, अवधी, गढ़वाली, राजस्थानी, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी, मैथिली, मघई आदि अनेकों बोलियाँ इसकी उपभाषाएँ बन कर रह गयी हैं। इनमें कितनी वास्तव में उपभाषाएँ हैं और कितनी पंजाबी की तरह स्वतंत्र भाषाएँ, यह अभी नहीं कहा जा सकता। लेकिन खड़ी बोली की ऐतिहासिक परम्परा को दृष्टिगोचर करते हुए इतना जरूर कहा जा सकता है कि मेरठ से लखनऊ तक का इलाका - हरियाणा, ब्रज और अवध - अवश्य ही इस भाषा का प्रामाणिक इलाका है। दिल्ली और लखनऊ ही इसके टकसाली केन्द्र हैं। यहीं के लोगों की यह मातृभाषा है। यहीं के लोग इसे सबसे ज्यादा अच्छे और सुन्दर ढंग से बोलते हैं। इसकी रूपरेखा, उन्नति और विकास के बारे में यहीं के लोगों को फैसले करने का अधिकार है। जब तक इस प्रदेश के लोग अपना यह अधिकार और कर्तव्य नहीं पहचानेंगे, तब तक इस भाषा की दुर्दशा ही होती रहेगी। यह 'गरीब की जोरू सब की भाभी' ही बनी रहेगी।

जिस प्रकार की हिन्दी में आकाशवाणी से समाचार प्रसारित किये जाते हैं, उसे सचमुच भाषा की दुर्दशा ही कहा जा सकता है। ऐसी शिखंडी भाषा जो खुद

समाचार सुनानेवाले के मुँह से मुश्किल से निकलती है, कभी पूरे हिन्दुस्तान के लोगों की जबान पर चढ़ पायेगी- ई खयाल अस्तो मुहाल अस्तो, जनून अस्त।

उत्तर प्रदेश वालों की मातृभाषा की फिल्में बंबई के स्टूडियो में बनती हैं, जहाँ के घटिया वातावरण से तंग आकर मुंशी प्रेमचंद छः महीने और अमृतलाल नागर कुछ वर्षों के अन्दर ही भाग खड़े हुए थे : या फिर फिल्में बनती हैं मद्रास में, जहाँ के लोग हिन्दी को सौ जूते मारकर एक गिनते हैं। ऐसी हालत में उन फिल्मों के घटिया होने पर हैरानी क्यों? मजे की बात तो यह है कि जितना किसी हिन्दी फिल्म का स्तर घटिया होगा, उतनी ही ज्यादा उसके उत्तर प्रदेश में सफल होने की सम्भावना बढ़ेगी। बंगालियों ने शरतचंद्र की कोई कृति फिल्माये बिना नहीं छोड़ी। लेकिन प्रेमचंद की अधिकांश रचनाएँ अभी तक वैसी ही धरी पड़ी हैं। हिन्दी तो सारे देश की भाषा है सो उत्तर प्रदेश वाले इस भाषा में फिल्में बनाने का कष्ट क्यों करें? उन महानुभावों का काम तो बस रह जाता है, आलोचना करना और यह बताना कि फिल्मों की भाषा किस हद तक 'हिन्दी प्रधान' है और किस हद तक 'उर्दू प्रधान'। सम्मानहीनता का इससे ज्यादा अच्छा उदाहरण किसी अश्लील चुटकुले में ही खोजा जा सकता है।

यही हाल तटवर्ती इलाकों की भाषाओं के मुकाबले में हिन्दी साहित्य, लोक कलाओं और रंगमंच का है। यही दयनीय हालत उनकी खेती-बाड़ी और उद्योग-धंधों की है। हिन्दुस्तान का सबसे उपजाऊ और प्रकृति की विभिन्न प्रकार की देन से भरपूर इलाका होते हुए भी उत्तर प्रदेश पिछड़ेपन और दीनता का उदाहरण बना हुआ है।

दिल्ली, मथुरा, आगरा, बनारस, लखनऊ कितने जादू भरे नाम हैं! उन्हें याद करते ही क्या-क्या चित्र आँखों के सामने साकार हो उठते हैं? लेकिन अब ऐसा लगता है, जैसे इस प्रदेश की भाषा की तरह इस प्रदेश के शहरों का भी अपना व्यक्तित्व समाप्त हो गया है। इनकी साझी हिन्दू-मुस्लिम सभ्यता, संस्कृति, रहन-सहन आदि की कोमल विशेषताएँ भी साम्प्रदायिकता की भट्टी में जलकर राख हो गयी हैं। कहा जाता है न कि काजी जी दुबले क्यों हुए? शहर के फिक्र में! उत्तर प्रदेश वासियों ने राष्ट्र का प्रतीक बनने के आडम्बर में पड़कर अपनी सांस्कृतिक केन्द्र-कीमतें ही गँवा दी हैं, और वे पिछड़ेपन के अंधे कुएँ में गिर पड़े हैं। उन्होंने अपने रत्नागारों के सभी दरवाजे ऐसे लुटेरों के लिए खोल रखे हैं, जिन्हें उनकी कोई कद्र-कीमत नहीं है। वे इस ओर ध्यान तो तब दें, जब उन्हें घरेलू नफरतों से फुर्सत मिले!

टैगोर ने ठीक ही कहा था कि हम सारे हिन्दुस्तान को तभी पहचान सकते हैं, अगर पहले अपने प्रांत को पहचानें। सारी मनुष्यता को वही व्यक्ति प्यार कर

सकता है जो पहले अपने घर के लोगों को, अपने पड़ोसियों को प्यार करे। जिसे खुद से प्यार नहीं, वह पराये लोगों को प्यार क्या करेगा?

हमारा देश अनेक कौमियतों का साझा परिवार है। वह तभी उन्नति कर सकता है, अगर हर एक कौम अपनी जगह संगठित और सचेत हो और अपनी जगह भरपूर मेहनत और उद्यम करे। सब कौमों के समान अधिकार हों। कोई एक-दूसरी से ज्यादती न करे। जैसे हर कौम, वैसे ही हर व्यक्ति समान अधिकार रखनेवाला हो-- आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक। भारतीय एकता और उन्नति का संकल्प लोकवाद और समाजवाद के आधार पर ही किया जा सकता है, न कि बड़ी मछली छोटी मछली को हड़प करने का अधिकार देकर।

जो लोग देश की एकता की खातिर 'एक देश, एक भाषा' की रट लगाये रहते हैं, उन्हें पाकिस्तान के तजुर्बे से सबक सीखना चाहिए। यह एकता का रास्ता नहीं, बल्कि पिछड़ेपन, लूट-खसोट और साम्राज्यवादी मोहताजी का रास्ता है। एकता प्राप्त करने के लिए पहले अनेकता का मोल आँकना होगा। कवि ने ठीक ही कहा है :

चमन में इख्तलाते रंग ओ बू से बात बनती है
हमीं हम हैं तो क्या हम हैं, तुम्हीं तुम हो तो क्या तुम हो?

मध्य युगीन साहित्य

हिन्दी लेखक के बजाय जब मैं पंजाबी लेखक बना तो मेरे विचार 'वैदिक काल' की ओर छलाँगें लगाना छोड़कर उस युग की ओर लौटे, जिसमें भारत की वर्तमान भाषाओं, लिपियों, कौमियतों और संस्कृतियों का जन्म हुआ था- अर्थात वही बदनाम मध्य युग, जिसमें मुस्लिम-म्लेच्छ संस्कार हिन्दू संस्कृति में सम्मिलित होने शुरू हुए थे। घर की शिक्षा और स्कूल-कॉलेज में पायी शिक्षा के प्रभाव में मैं इस युग को अंधकारमय और अधोगति का जमाना समझता आया था और भक्ति-लहर के कवियों और संतों-सूफियों को केवल निराशा फैलानेवाले देहाती कवि, बैरागी और छायावादी मानता था। लेकिन जब मैंने अपनी भाषा के प्राचीन साहित्य का अध्ययन किया तो पता लगा कि असलियत कुछ और ही थी।

इस्लाम का जन्म अरब में हुआ था, लेकिन हमारे देश पर अरबों ने कभी राज नहीं किया। ग्यारहवीं सदी के आस-पास उन्होंने सिर्फ एक हमला सिंध पर किया था। और लगभग एक साल मुलतान तक का इलाका उनके कब्जे में रहा। फिर वे वापस चले गये। इस हमले का जिक्र इतिहासकार बड़ी इज्जत से करते हैं, क्योंकि इस छोटे से अरसे में ज्ञान-विज्ञान का जो आदान-प्रदान अरबों और भारतीयों के बीच

हुआ, उससे सारे संसार को लाभ पहुँचा। अरब वाले हिन्दुस्तान से गणित की दशमलव प्रणाली ले गये और फिर वह यूरोप में भी प्रचलित हुई। आज सारा संसार उसका प्रयोग कर रहा है। इसी तरह, वे पंचतंत्र की कहानियाँ, उपनिषद और पता नहीं अन्य क्या कुछ ले गये। अरबों की नजर में भारत की सभ्यता-संस्कृति की कितनी कद्र थी यह बात तेरहवीं सदी के एक अरबी इतिहासकार, अबुल-कासिम सायद-बिन-अहमद के कथन से स्पष्ट हो जाती है। यह विद्वान मूर-शासन-काल में स्पेन में रहता था। वह लिखता है:

> 'संसार के सभी प्राचीन देशों में हिंद ज्ञान और विज्ञान में सबसे आगे है। न्याय और उत्तम राजनीति का वह प्रकाश केन्द्र है।'
>
> 'हिंद के लोग बड़े सुशील, बुद्धिमान और ऊँचे विचारोंवाले हैं। उन्होंने मानव जाति के लाभ के लिए प्रत्येक क्षेत्र में उच्च स्तर कायम किये हैं। ईश्वर ने उन्हें सफेद चमड़ी वाली कौमों के मुकाबले में ज्यादा ऊँची अक्ल दी है।'
>
> 'हिंद के लोग नम्र और सभ्य हैं। उन्होंने अंक विद्या, गणित विद्या और नक्षत्र विद्या में कमाल हासिल किया है। औषधि शास्त्र और चिकित्सा शास्त्र के भी वे विशेषज्ञ हैं। वे एक ही ईश्वर में विश्वास रखते हैं।'
>
> 1 से 9 तक के अंक, शून्य के साथ, हमें हिंद से ही हासिल हुए हैं। गणित में इन अंकों का प्रयोग हिंद के लोगों की सूक्ष्म बुद्धि का सबूत है। शतरंज का खेल भी हिंद के लोगों की अद्भुत विचार-शक्ति की पैदावार है...

अद्वैतवाद की परम्परा

'वे एक ही ईश्वर में विश्वास रखते हैं'-- इस वाक्य पर ध्यान देने की जरूरत है। इसका संकेत हमारे उपनिषद-दर्शन शास्त्र की सर्वोत्तम देन, अद्वैतवाद की ओर है, जो कि मध्ययुगीन भक्ति लहर का मूल स्रोत माना जाता है। सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म का रूप है। वह सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, अजर, अमर, अनादि, अनन्त, निराकार, सृष्टि को जन्म देने वाली शक्ति, जो निरन्तर गति और निरन्तर विकास प्रदान करती है, जो सृजन करती है, पालन करती है और संहार भी करती है। सत् चिद् और आनन्द उसके गुण हैं। सभी जड़ और चेतन पदार्थ उसके गर्भ में से प्रसूत होते हैं, और उसी में विलीन हो जाते हैं। जीव की आत्मा का परमात्मा से बूँद और सागर वाला रिश्ता है या कहा जाये कि पंच भौतिक शरीर धारण करके जीव विरह की अवस्था में आ जाता है लेकिन इस अवस्था में भी अपने प्रियतम, अर्थात् ब्रह्म के साथ जुड़कर अनन्त सुख प्राप्त कर सकता है। सभी जीवों में ब्रह्म है। इसलिए किसी

को अकारण कष्ट नहीं देना चाहिए। मनुष्यों को प्यार और उदारता भरा व्यवहार करना चाहिए। किसी भी विचारधारा या धर्म के साथ द्वेष नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह सभी ब्रह्म का ही रूप हैं।

डॉ. राधाकृष्ण के कथनानुसार इस दार्शनिकता का एक हानिकारक पक्ष भी था, जिसके कारण भारतीय संस्कृति अच्छाइयों के साथ बुराइयों को भी अपने आँचल में समेटती चली गयी (आखिर सब कुछ ब्रह्म का ही तो रूप था!) अत्यधिक उदारता के कारण अद्वैतवाद का क्रान्तिकारी मूल-गुण खो गया। लेकिन फिर भी दर्शनशास्त्र में अद्वैतवाद का बहुत ऊँचा स्थान है। निःसंदेह यह अपने समय का सर्वो त्तम दर्शन था। इतिहास के प्रत्येक पड़ाव पर अद्वैतवाद ने किसी-न-किसी रूप में हमारे समाज को हाथ देकर गिरावटों से बचाया है। भगवत गीता, बुद्ध और महावीर की शिक्षा, शंकराचार्य, नानक, कबीर, तुकाराम, ज्ञानेश्वर और वर्तमान युग में विवेकानन्द, टैगोर और महात्मा गाँधी- सब की विचारधारा में उपनिषदों का चिन्तन किसी-न-किसी रूप में मौजूद था। भारतवासियों ने हमेशा नये प्रभावों और नये लोगों को अंगीकार करके अपनी सभ्यता-संस्कृति के प्रवाह को अटूट रखा है। इस बात पर संसार को आश्चर्य होता है। मेरे खयाल में इसका रहस्य ज्यादातर उपनिषदों की शिक्षा में ही छिपा हुआ है।

ईरान और अरब के सूफीवाद के साथ अद्वैतवाद और वेदान्त के प्राचीन काल से सम्बन्ध रहे हैं। इन्हीं सम्बन्धों ने हमारे देश में इस्लामी और हिन्दू विचारधाराओं के टकराव को एक सुमेल और संगम में बदल दिया, जो इतिहास की एक अद्भुत और अपूर्व घटना है। इस संगम में से ही सांस्कृतिक पुनर्जागृति की भांति भक्तिलहर की धारा विभिन्न दिशाओं में बहने लगी थी। अनेक सूफी दरवेश हमेशा के लिए हिन्दुस्तान में बस गये। सिंधियों की अरबी लिपि उन्हीं की देन है, जो उन्हें इतनी प्रिय है कि बँटवारे के बाद अपना सब कुछ लुटाकर आये हुए हिन्दू सिंधी भी उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। शाह रसूल और शाह लतीफ को अब भी वह सीने से लगाये हुए हैं।

अरबों ने हिन्दुस्तान पर शासन नहीं किया, लेकिन हमारे साथ उनके व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध हजारों साल पुराने हैं। अरब के लोग प्रायः समुद्री जहाजों द्वारा हिन्दुस्तान के पश्चिमी तट पर आकर उतरते और फिर वहीं बस जाते। केरल के मोपला लोग इन्हीं अरब जहाजरानों की संतान हैं। केरल की भाषा में 'मोपला' शब्द का अर्थ है, 'दूल्हा'। अरबवासी अपनी स्त्रियों को साथ लेकर नहीं आते थे। वे यहीं शादियाँ करते और यहीं के होकर रह जाते

थे। इसलिए उनका नाम मोपला पड़ गया। गुजरात, कोंकण, कन्नड़, केरल और लंका से लेकर मलाया और इंडोनेशिया तक अरबों ने शान्तिमय ढंग से अपनी नौआबादियाँ कायम कीं।

जिन मुस्लिम कौमों ने हिन्दुस्तान पर बाकायदा तौर से हमले किये और हुकूमतें कायम की, वे उत्तर-पश्चिम की ओर से हिन्दूकश पर्वतश्रेणी के दर्रों के रास्ते आती थी। वे केन्द्रीय एशिया और मध्य एशिया की कौमें थीं। सच पूछिए तो ये कौमें वास्तव में उसी आर्य जाति की सन्तान थीं, जो प्राचीन काल से भारत में आकर बस गयी थीं। और अब हिन्दू कहलाती थी।

आर्यों ने जिस प्रकार द्रविड़ों और मुंडों को भगाकर सारा उत्तरी भारत अपने कब्जे में कर लिया, इससे उनके विशेष शान्तिमय होने का सबूत नहीं मिलता। हारी हुई जातियों को शूद्र और दस्यु का दर्जा देकर अपमानित करना सहनशीलता या उदारता की निशानी नहीं है। लेकिन यह प्राचीन समय की बातें हैं। इतना हम जरूर कह सकते हैं कि मध्य और केन्द्रीय एशिया की जातियों को हमेशा से ही हिन्दूकश के रास्ते से भारत पर हमले करने का चस्का रहा है। इसका कारण, यहाँ का ऐश्वर्य या सुखद जलवायु, कुछ भी।

सम्राट विक्रमादित्य (द्वितीय) और कनिष्क के बारे में अनुमान लगाया जाता है कि वे तुरुष्क (तुर्क) जाति के ही थे।

सम्राट अशोक के मन का बुद्ध मत देश-देशांतर में फैल गया था। तब चीन और जापान की तरह, मध्य और केन्द्रीय एशिया के सारे प्रदेश भी बुद्ध मत के अनुयायी हो गये थे। उन दिनों तुर्क, मुगल, अफगान सभी बौद्ध होते थे। अशोक काल के कई खंडहर इन्हीं इलाकों में मिले हैं। चीनी यात्री ह्यूनसांग के कथनानुसार समरकंद (बाबर की जन्मभूमि) मध्य एशिया में बौद्धों का प्रमुख केन्द्र था। बौद्ध भिक्षु वहाँ से होकर चीन और भारत में आया-जाया करते थे।

समय का चक्कर चलता रहा। बौद्ध-मत भारत में पतनोन्मुख होकर अपना प्रभाव खो बैठा और हिन्दू मत-मतांतर फिर से उभर आये। इसी प्रकार अफगानिस्तान, कंधार, समरकंद आदि में भी बौद्धमत गिरावट के रास्ते पर चल पड़ा और अन्त में इस्लाम ने उसका स्थान ले लिया।

नसली एकता

मतलब यह कि इस्लाम कबूल करने से पहले भी हिन्दुस्तान पर खैबर के रास्ते से वही जातियाँ हमले करती थीं, जिन्होंने इस्लाम कबूल करने के बाद हमले

किये थे। उनका सिर्फ धर्म बदला था। नसली तौर पर वे वही थीं जो आर्यकाल से भारत में बसी हुई थी। एक ही खून था दोनों का। उनकी भाषाएँ भी उसी प्रकार संस्कृत में से निकली थीं, जैसे कि उत्तरी भारत की भाषाएँ। विचारधाराओं और संस्कृतियों का जिस प्रकार पहले टकराव और संगम होता आया था, वैसे ही तब भी होता चला गया। विदेशियों को जिस प्रकार पहले भारत अपने अन्दर समा लेता रहा था, तब भी समाता रहा। कोई अनहोनी बात नहीं हुई।

इतिहास के विद्यार्थियों के सामने ये बातें जरूर स्पष्ट होनी चाहिए। अंग्रेजों ने दो सौ वर्ष तक हिन्दुस्तान पर राज किया। इस दौर को हम भारतीय इतिहास का 'ईसाई युग' नहीं कहते 'ब्रिटिश' युग कहते हैं। और यह ठीक भी है। राज्य कायम करने के प्रयत्न, फ्रांस, हॉलैंड और पुर्तगाल के लोगों ने भी किये और वे भी ईसाई थे। इसलिए 'ब्रिटिश' युग कहना ही ठीक है वरना इतिहास का चेहरा धुँधला पड़ जायेगा।

इसी प्रकार, भारतीय इतिहास को सिरे से 'हिन्दूकाल' और 'मुस्लिमकाल' में बाँट देना भी उसके चेहरे को धुँधला करता है, वहम और द्वेष के कीटाणुओं को जन्म देता है।

इतिहास केवल राजाओं-महाराजाओं की लड़ाइयों और प्रेमकथाओं का वर्णन नहीं होता। उसे समझने के लिए आर्थिक और सामाजिक असलियत की गहराई तक पहुँचने की जरूरत है। यद्यपि राजनीतिक दृष्टिकोण से भारतीय मध्यकाल भी, यूरोप के मध्यकाल की भाँति, रक्तपात, बर्बरता और शासकों की निरंकुशता का समय रहा है, लेकिन कला-कौशल और साहित्य के दृष्टिकोण से वह एक निरन्तर प्रगति और विकास का दौर रहा है।

संस्कृतियों का सम्मिश्रण और बहुमुखी विकास

हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के सम्मिश्रण ने इसी युग में इमारतकारी के अद्वितीय शाहकार पेश किये हैं। संगीत के क्षेत्र में 'खयाल' जैसा विस्मयजनक आविष्कार इसी युग की देन है। तबला, सारंगी, सितार जैसे साज भी मध्ययुग से ही अस्तित्व में आये, जिनकी सूक्ष्मताएँ आज यूरोप के संगीतकारों को भी मुग्ध कर रही हैं। चित्रकला, नृत्य, छंदशास्त्र और अन्य कई विद्याओं के नाम गिनाये जा सकते हैं। कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है, जिसमें हिन्दुस्तानियों ने इस युग में भी आश्चर्यजनक प्राप्तियाँ न की हों। इन्हीं के आधार पर हिन्दुस्तान सोने की चिड़िया कहलाया था। हिन्दुस्तान के कला-कौशल और उद्योग-धंधे संसार भर के आकर्षण की चीजें बने हुए थे।

इस बहुमुखी विकास का वैचारिक प्रेरणा-स्रोत हम भक्ति-लहर को कह सकते हैं। जिस प्रकार प्राचीनकाल में बौद्ध मत ने हमारे देश की जनता को नये ढंग से सोचने और जीने की प्रेरणा दी थी, उसी तरह मध्यकाल में संतों, भक्तों और सूफियों ने भी एक नया क्रान्तिकारी चिन्तन प्रदान करके सृजनात्मक शक्तियों के रास्ते साफ कर दिये थे।

भक्ति-लहर का अनमोल बिरसा हिन्दुस्तान के चप्पे-चप्पे में बिखरा पड़ा है। कश्मीर में लल-दद, नुंद ऋषि (असली नाम शेख नूरुद्दीन), हब्बा खातून, सिंध में शाह रसूल, शाहलतीफ, पंजाब में शेख फरीद, गुरु नानक, बुल्लेशाह, गुजरात में नरसी भगत, उत्तर प्रदेश में कबीर, सूरदास रहीम, मीराबाई, तुलसीदास, महाराष्ट्र में संत ज्ञानेश्वर, तुकाराम, नामदेव, शेख मुहम्मद बाबा, बंगाल में जयदेव, रामानंद, चंडीदास - जनता के दिलों पर राज्य करनेवाले नाम हैं। मुझे विश्वास है कि ऐसे नाम दक्षिण भारत में भी मिलेंगे, क्योंकि भक्ति लहर का जन्मस्थान दक्षिण भारत ही बताया जाता है। और इन नामों के साथ कोई साम्प्रदायिक विशेषण नहीं जोड़ा जा सकता। हिन्दू और मुस्लिम जनता को यह समान रूप से प्रिय हैं। इनकी वाणी वर्तमान भारतीय भाषाओं का आधार हैं और इस में अमृत घुला हुआ है।

भक्ति-लहर

भक्ति लहर का युग एक अथाह सागर है। रवींद्रनाथ टैगोर और क्षितिमोहन सेन जैसे विद्वानों ने इस सागर में गहरे गोते लगाये हैं। मैं तो केवल इसके किनारे पर ही टहला हूँ और सिर्फ पंजाब की भक्ति लहर से ही थोड़ा बहुत परिचय प्राप्त किया है। लेकिन इतने से ही आश्चर्यचकित रह गया हूँ। इसके गौरव से मेरी आँखें चुँधिया गयी है।

जिस हिन्दू-मुस्लिम एकता, धर्मनिरपेक्षवाद, भावात्मक एकता, लोकवाद और समाजवाद के लिए हम इतनी तीव्रता से लालायित हैं, उसका बीड़ा पंजाब के भक्त गुरुओं और संत-सिपाहियों ने कई सदियों पहले उठा लिया था। उदाहरण के तौर पर, गुरु गोविंद सिंह की वाणी में से कुछ पंक्तियों का उल्लेख करना चाहता हूँ:

देहुआ मसीत सोई पूजा ओ नमाज ओई
मानस सभे एक पै अनेक को भ्रमाओ है।
देवता अदेव जच्छ गन्धर्व तुर्क हिन्दू
न्यारे न्यारे देसन के भेस को प्रभाओ है।
एकै देह एकै वान, एकै नैन एकै कान

खाक बाद आतश और आब को रलाओ है।
अल्लाह अभेख सोई, कुरान और पुरान ओई
एक ही सरूप सभै एक ही बनाओ है।

उदारता, सहनशीलता और धर्मनिरपेक्षता की इससे अधिक स्पष्ट शब्दों में व्याख्या कहाँ मिलेगी?

भक्ति लहर के अन्य सभी संतों-सूफियों की तरह गुरु गोविंद सिंह भी व्यक्ति-पूजा, मठवाद और अंधविश्वास के कड़े विरोधी थे। उन्होंने जोरदार शब्दों में कहा है:

जो मो को परमेश्वर उचरें
ते जन नरक कुंड में परैं।
मैं हूँ परम पुरख को दासा
देखन आयो जगत तमासा।

दीन-दलितों को अपने बाहुबल से बादशाहों का मुकाबला करने और उनके सिंहासन छीनने योग्य बनने के आदर्श का उन्होंने इस प्रकार वर्णन किया है :

चिड़ियों से मैं बाज लड़ाऊँ
राठन के संग रंक लड़ाऊँ
भूप गरीबन को कहवाऊँ
सवा लाख से एक लड़ाऊँ
तब गोविंदसिंह नाम धराऊँ

और यह सिर्फ कागजी आदर्श नहीं था। इसे उन्होंने अपनी जीवन-तपस्या का अंग बनाया था। जो कहा, वह करके भी दिखाया।

गुरु अर्जुन देव और भाई गुरुदास द्वारा सम्पादित किया गया आदि-ग्रंथ भी, जिसे सिक्ख अपना ग्यारहवाँ गुरु मानते हैं, भावात्मक एकता की दिशा में उठाया गया एक ऐतिहासिक कदम था। इसमें उत्तरी भारत के प्रमुख निर्गुणवादी, वेदांती और सूफी संतों-दरवेशों की वाणी इकट्ठी की गयी है। शेख फरीद, कबीर, रविदास, नामदेव (महाराष्ट्र), जैदेव, रामानंद (बंगाल) सबकी वाणी इस अपूर्व ग्रंथ में सुशोभित है। जिस पवित्र हरिमंदिर में इस ग्रंथ की स्थापना की गयी, उसका बुनियादी पत्थर पीर मियाँ मीर के हाथों रखवाया गया था- वही महापुरुष, जिसने उपनिषदों का अनुवाद फारसी में करवाया था। मैक्स मूलर के कथनानुसार, यूरोप को उपनिषदों का पता सबसे पहले इन्हीं फारसी अनुवादों द्वारा मिला था।

बहुत विशाल विरसा है यह। और इसे हमारी नजरों में कभी जबर्दस्ती

संस्थापक धार्मिकता के साथ जोड़ कर और कभी मध्यकालीन और छायावादी कहकर नगण्य बनाया गया है। हम सुशिक्षित लोग जिस हद तक इस विरसे से दूर हो गये हैं, उसी हद तक जनता से भी दूर हो गये हैं। अगर हम इस विरसे का गम्भीरता से मूल्याँकन करें तो अतीत के युग-सत्य का वर्तमान के युग-सत्य से सहज ही सुमेल और संगम करा सकते हैं, सब द्वेषभाव मिटाकर अपने देश की सृजनात्मक शक्तियों के लिए नये सिरे से रास्ते खोल सकते हैं।

भक्त और सूफी कवियों की सबसे बड़ी देन उनके भाषा और साहित्य सम्बन्धी स्पष्ट और ठोस जनवादी दृष्टिकोण है। आज का कोई विद्वान उनमें नुक्स नहीं निकाल सकता।

जन भाषा

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, जन भाषा के रूप में संस्कृत का रोल महात्मा बुद्ध के समय में ही खत्म हो गया था। उसका स्थान पाली-प्राकृत ने ले लिया था। अर्थात भाषा-विज्ञान की दृष्टि से पाली और प्राकृत संस्कृत का अधिक उन्नत और सजीव रूप थीं।

कितनी सदियाँ और गुजर गयीं। कितने उतार-चढ़ाव और आये। संसार के अन्य पदार्थों की भांति भाषाएँ भी एक स्थान पर खड़ी नहीं रह सकतीं। मध्यकाल के आगमन तक पाली-प्राकृत भी विभिन्न प्रकार की प्रादेशिक अपभ्रंश भाषाओं में बँट गयी थीं। संस्कृत अब पूर्ण रूप से निर्जीव और किताबी भाषा बनकर रह गयी थी।

यह अपभ्रंश भाषाएँ भी पाली-प्राकृत की भाँति, पैदा तो संस्कृत की कोख से हुई थीं, लेकिन अब उससे उनकी नाल कट चुकी थीं। उनमें स्वतंत्र भाषाएँ बनने की पूरी सम्भावना पैदा हो चुकी थी।

लेकिन उस समय का उच्चवर्ग-- हिन्दू चाहे मुस्लिम-- इस सम्भावना को पसंद नहीं करता था। विद्या और संस्कृति पर ब्राह्मणों और काजियों ने अपना एकाधिकार जमाया हुआ था, और वे खुद राजाओं और सुल्तानों का दाहिना हाथ थे। उन्हें समाज में गति और विकास नहीं, बल्कि ठहराव चाहिए था। उनके वर्गहित तभी सुरक्षित रह सकते थे, अगर साधारण जनता अज्ञान, अंधविश्वास और आत्मग्लानि में डूबी रहे, उनकी मोहताज बनी रहे, धर्म और जात-पात के बँटवारे को ईश्वर का हुक्म मानकर स्वीकार किये रहे। इसलिए जन-भाषाएँ उच्चवर्ग द्वारा घटिया करार दी जाती थीं।

लेकिन भक्तिकाल के संतों-दरवेशों ने इस साजिश पर से पर्दा उठा दिया। वे

अपनी आँखों के सामने गरीब जनता पर अन्याय और अत्याचार होते देख रहे थे। यह उनके लिए असह्य था। जनता को इससे छुटकारा दिलाने का एक ही रास्ता था- जनता के स्वामित्व को जागृत करना, उसके हाथों में किसी ऐसी विचारधारा का हथियार देना, जो उच्च वर्ग के इजारों को खत्म करने के लिए सुदर्शन-चक्र का काम दे।

इस क्रान्तिकारी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने उन्हीं स्थानीय अपभ्रंश भाषाओं को अपने सन्देश का माध्यम बनाया, जो अभी पूर्णरूप से विकसित नहीं हुई थीं। और ऐसे महान साहित्य का निर्माण किया कि समय पाकर वे 'असभ्य' और 'गँवार' बोलियाँ संस्कृत और फारसी के साथ कंधे से कंधा मिलाकर खड़ी होने के योग्य साहित्यिक भाषाएँ बन गयीं। यह शानदार करिश्मा एक ओर उनके अथाह जनप्रेम को-

जन की टहल, सम्भाखन जन सिउ
ऊठन बठन जन के संगा।
जन चर रज मुख माथे लागी
आसा पूरन अनत तरंगा। - गुरु अर्जुन देव

और दूसरी ओर उनके अतीव विवेकपूर्ण और निर्भीक प्रगतिशील चिन्तन को प्रमाणित करता है।

संस्कृत अंधा कूप है
भाखा बहता नीर । - कबीर

इसका यह मतलब हरगिज नहीं कि भक्त कवियों को संस्कृत या फारसी से कोई द्वेष था। भाषाओं के प्रति वही लोग छोटे दिल का सबूत देते हैं, जिनके दृष्टिकोण फरसूदा हों। जब भी जरूरत महसूस हुई या मन में लहर उठी तो इन भक्त कवियों ने संस्कृत और फारसी में भी ऊँचे स्तर की कविता की सृष्टि की। प्राचीन धर्मग्रंथों के प्रति उनके दिल में अथाह प्यार और श्रद्धा थी। लेकिन 'भाखा' में लिखते समय वे किसी आत्मग्लानि का अनुभव नहीं करते थे, और न ही उसके कारण अपनी शैली को शुद्ध संस्कृत या फारसी से अलंकृत करने का प्रयत्न करते थे। इन भाषाओं में से वे असंख्य शब्द खुलदिली से लेते रहे। लेकिन प्रयोग करने से पहले वह उनका तद्भवीकरण या अपभ्रंशीकरण कर लेते थे, ताकि उनकी ध्वनि तथा रूप भाखा में बोझिल, अपरिचित या खटकनेवाला न रहे।

यही रास्ता अंग्रेजी भाषा के विकास के लिए चौसर, स्पेंसर और शेक्सपियर जैसे महान साहित्यकारों ने अपनाया था। बड़े चाव से हर तरफ से नये शब्द ले लेना और तद्भवीरकण के रास्ते उन्हें अपने हाजमे के अनुकूल

पचा लेना, यह अंग्रेजी भाषा की पुरानी परम्परा चली आ रही है।

गोस्वामी तुलसीदास रचित *रामचरितमानस* शब्दों के तद्भवीकरण का सर्वोत्तम उदाहरण है। संस्कृत में लिखी गयी *वाल्मीकि रामायण* को तुलसीदास ने पुरोहितों और पंडितों की कैद में से निकालकर जनसाधारण की सम्पदा बना दिया। यही नहीं कि साहित्यिक दृष्टि से *रामचरितमानस* वाल्मीकि *रामायण* से किसी भी तरह कम नहीं, बल्कि उसे तुलसीदास की आश्चर्यजनक प्रतिभा और परिश्रम ने संसार-साहित्य का एक विशिष्ट ग्रंथ बनने का सम्मान दिलवाया है। शेक्सपियर के बारे में कहा गया है कि संसार में कोई ऐसी कहने लायक बात नहीं है, जो उसने अपने नाटकों में न कह दी हो। वही कथन तुलसीदास पर भी पूरा उतरता है। मानव-जीवन के गहन से गहन अनुभव, सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव और प्रकृति के अतीव मनोरम चित्र तुलसीदास के काव्य में पाये जाते हैं। लेकिन किसी स्थान पर भी उन्होंने अपनी शैली को संस्कृत के तत्सम शब्दों से बोझिल नहीं किया। उन्होंने सुरुचिपूर्ण ढंग से संस्कृत शब्दों के केवल तद्भव और अपभ्रंश रूपों का प्रयोग किया है। साहित्य सौन्दर्य का इससे बढ़िया उदाहरण ढूँढे से नहीं मिल सकता।

हमारे पंजाब के भक्ति-साहित्य की परम्परा भी यही है। बल्कि गुरुनानक, भाई गुरुदास और बुल्लेशाह जैसे महान कवियों ने इस परम्परा को इतना परिपक्व बना दिया है कि वर्तमान पंजाबी साहित्य में संस्कृत और फारसी के तत्सम शब्द कोशिश करने पर भी सुन्दर नहीं लगते और पढ़ते समय बुरी तरह खटकते हैं।

यही प्रवृत्ति मैंने गुजराती, मराठी, बंगाली आदि में भी देखी है। पहली नजर में ये भाषाएँ संस्कृत से लदी हुई प्रतीत होती हैं, लेकिन असलियत यह नहीं है। 'विस्माद' जैसा संस्कृत शब्द बंगाली में 'विशाद' बोला जाता है, चाहे लिखने में वह तत्सम ही प्रतीत हो। 'सभा-मौकूफी' शब्द मैंने आज के एक गुजराती समाचार-पत्र में से ले लिया है। कितनी आजादी के साथ संस्कृत के एक शब्द को फारसी के साथ जोड़ दिया गया है। 'शिक्षा' शब्द का अर्थ मराठी में 'सजा' और 'साक्षर' शब्द का अर्थ गुजराती में 'साहित्यिक व्यक्ति' हो जाता है। हरकत, गनीम, तहाकुब जकात, आमदार, खासदार, आदि शब्द मराठी में आम प्रयोग के शब्द हैं। ये फारसी से आये हैं, या और कहीं से, इस बात की किसी मराठी भाषी को परवाह नहीं है। शब्द चाहे संस्कृत का हो, या फारसी का, मराठी व्याकरण के अनुसार ही उसका प्रयोग किया जाता है। यह बात मराठी भाषियों की खुलदिली और आत्मविश्वास का सबूत देती है।

शब्दों का तद्भवीकरण

जो बात पंजाबी, बंगाली, मराठी, गुजराती आदि के लिए उपयुक्त और सही है, मैं समझता हूँ कि वह उर्दू-हिन्दी के लिए भी उतनी ही सही होनी चाहिए। शुद्ध संस्कृत और शुद्ध फारसी को हजम करना खड़ी बोली के लिए भी उतना ही मुश्किल है। खड़ी-बोलीवालों को भी संस्कृत-फारसी और उसके व्याकरण की दासता से छुटकारा पाना चाहिए। इन भाषाओं में से लिये गये शब्दों का अपनी भाषा के स्वभाव के अनुसार अपभ्रंशीकरण या तद्भवीकरण बहुत जरूरी है। ऐसा न करना भाषा को निर्जीव और दुर्बल बनाना है। इस बारे में जब तक आप अपना दृष्टिकोण नहीं बदलेंगे, तब तक आप तटवर्ती इलाकों की भाषाओं के साथ आँख नहीं मिला सकेंगे, अंग्रेजी को गर्दन से पकड़ना तो अलग रहा।

कहने का मतलब यह, मेरे प्यारे दोस्तों, कि आपकी वर्तमान हिन्दी शैली, जिसमें संस्कृत का अंधाधुंध प्रवेश और फारसी शब्दों का अंधाधुंध बहिष्कार हो रहा है, उसकी उन्नति या विकास का सूचक नहीं है। इस रुझान की बदौलत यह शैली आपके अपने प्रांत में भी, और बाकी भारत की जनता के लिए भी प्रिय होने के बजाय अप्रिय बनती जा रही है। इस असलियत को आप जितनी जल्दी समझ सकें, उतना ही आपके लिए अच्छा है।

लिपि की समस्या

लिपि की समस्या के बारे में भी भक्तिकाल और मध्यकाल की पृष्ठभूमि को देखने पर बहुमूल्य संकेत मिलते हैं और पता चलता है कि हमारे पूर्वज इस दिशा में भी धार्मिक पक्षपात से बिल्कुल मुक्त थे।

मुगल साम्राज्य के समय से फारसी सारे उत्तर भारत की राज्य भाषा बनी रही। उस साम्राज्य को मराठों और सिक्खों के आंदोलनों ने गहरी चोट पहुँचाई। लेकिन छत्रपति शिवाजी और महाराज रणजीतसिंह ने अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित करने पर भी राज्यभाषा का दर्जा फारसी को ही दिया। इससे उनकी उदार और असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति का अनुमान भलीभाँति लगाया जा सकता है। हम यह भी देख चुके हैं कि किस प्रकार अरबी लिपि सिंधी हिन्दुओं और मुसलमानों को हमेशा से एक सी प्यारी रही है।

सैकड़ों सालों से सारे उत्तरी भारत में स्थानीय लिपियों के साथ-साथ फारसी लिपि का भी प्रयोग होता रहा है, कहीं ज्यादा, कहीं कम। पंजाब और उत्तर प्रदेश में ज्यादा, क्योंकि यह इलाके शासन-केन्द्र के निकट थे। बंगाल और महाराष्ट्र जैसे दूर

के इलाकों में कम। लिपियों के सम्बन्ध में लोगों में किसी प्रकार का परस्पर विरोध नहीं था। आज जैसे रोमन लिपि हमारे लिए विदेशी और पराई लिपि नहीं रह गयी है, इसी प्रकार, सदियों से प्रयोग में आने पर, फारसी लिपि भी, मुगल वेशभूषा की तरह, भारत की अपनी चीज बन गयी थी। हम नहीं कह सकते कि शेख फरीद ने अपनी रचना फारसी लिपि में की थी या गुरुमुखी लिपि में, यद्यपि आज वह गुरुमुखी में प्राप्त है। वारिसशाह के बारे में हम किसी हद तक दावे के साथ कह सकते हैं कि हीर-रांझा का किस्सा उन्होंने फारसी लिपि में लिखा होगा। हो सकता है कि बुल्लेशाह ने भी फारसी लिपि का उपयोग किया हो, या शायद दोनों ही लिपि का उपयोग किया हो, या शायद दोनों ही लिपियों में लिखा हो। किसी भी पंजाबी को इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता। उसकी भाषा की यह दोनों ही ऐतिहासिक लिपियाँ हैं। पंजाबियों को अपने महान कवि हर हालत में प्रिय हैं और यह प्यार अटूट है।

पश्चिमी पाकिस्तान में फिर से सूबे कायम कर दिये गये हैं। ईश्वर ने चाहा तो वहाँ भी पंजाबी को अपना अधिकार मिलकर रहेगा, जैसे कि बंगाली को मिला हुआ है। लेकिन इसका यह मतलब बिल्कुल नहीं कि वहाँ गुरुमुखी लिपि भी कबूल की जायेगी। अगर की जाये तो बहुत अच्छा है, क्योंकि बंगाली की तरह, वह विशेष रूप से अपनी भाषा के लिए ही जन्मी और विकसित हुई लिपि है। लेकिन अगर उसे कबूल नहीं किया जाता तो किसी हिन्दुस्तानी पंजाबी को एतराज नहीं हो सकता, क्योंकि वह जानता है कि पंजाबी के लिए फारसी लिपि भी सदियों से प्रयोग की गयी है। भूतकाल में भी यह दोनों लिपियाँ साथ-साथ चलती रही थीं और आज के जमाने में भी बड़ी खुशी से इन दोनों का प्रयोग कर सकते हैं।

इसी तरह आपके प्रांत, उ.प्र. में भी फारसी और नागरी दोनों ही लिपियाँ सदियों से बहनों की तरह साथ-साथ रहती आयी हैं। कौन कह सकता है कि अमीर खुसरों ने अपने दोहों और अन्य रचनाओं के लिए किस लिपि का प्रयोग किया होगा? वे प्रसिद्ध दरबारी कवि थे। उनका फारसी में लिखना ज्यादा यकीनी प्रतीत होता है। मलिक मोहम्मद जायसी ने जरूर पद्मावत लिखते समय नागरी लिपि का प्रयोग किया होगा। लेकिन इस बात से कोई फर्क़ नहीं पड़ता। दोनों ही हिन्दी के महान कवि हैं। उर्दू उच्च वर्ग और शहरी लोगों की लाड़ली बनती गयी। लेकिन उसमें लिखनेवाले कवि मुसलमान भी थे और हिन्दू भी। यहाँ तक कि अंग्रेज भी थे। इस तरह फारसी लिपि के साथ अन्याय या द्वेष करना आपको भी किसी प्रकार शोभा नहीं देता।

हम ऊपर देख आये हैं कि खड़ी बोली तभी विकसित हुई, जब सरकार-दरबार

में उसे सम्मान मिलने लगा। और तब वह ज्यादातर फारसी लिपि में ही लिखी जाती थी और उर्दू कहलाती थी। अगर आपने आधुनिक हिन्दी के लिए ब्रज और अवधी जैसी महान भाषाओं को हटाकर (उन्हें उपभाषाएँ करार देकर), खड़ी बोली को ही अपनाया था तो उसके लिए फारसी लिपि को भी खुले दिल से अपना लेना उचित था। द्वि-लिपिया भाषा होने से हिन्दी-उर्दू का कुछ भी नहीं बिगड़ जाता।

यह बात आपको चाहे कितनी ही कड़वी लगे, लेकिन कहना ही पड़ेगा कि जिस सिंहासन पर आप इस समय अधिकार जमाये बैठे हैं, वह आप को साम्प्रदायिक राजनीति और देश के बँटवारे की बदौलत मिला है। उस पर विराजमान होकर आप कभी भी असाम्प्रदायिक होने का दावा नहीं कर सकते। आपकी आनेवाली पीढ़ियाँ आपके इस दावे को झुठलायेंगी। उर्दू का हक मारकर उत्तर प्रदेश के लोगों ने न ही पाकिस्तान को अँगूठा दिखाया है और न ही मुसलमानों की गर्दन मरोड़ी है, उन्होंने अपनी पवित्र मातृभाषा का अपमान किया है और अपने सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास पर कुल्हाड़ी मार ली है। जबर्दस्ती हासिल किये गये हक कानून तो करार दिलाये जा सकते हैं (बशर्ते कि कानून पर जोर चलता हो), लेकिन नैतिक करार नहीं दिये जा सकते।

अगर आप अब भी सचेत हो जायें और वह रास्ता छोड़ने का साहस करें, जो हर प्रकार से गलत है; अगर आप अपनी पिता-पुरखी परम्पराओं का सम्मान करते हुए उत्तर प्रदेश के लिए फारसी और नागरी दोनों ही लिपियों को स्वीकार कर लें; अगर आप दोनों ही शैलियों को संस्कृत और फारसी की गुलामी से आजाद करा लें, और अपनी भाषा का वैसे ही विकास करें, जैसे बंगाली या अंग्रेजी का हुआ है, या जैसे भूतकाल में आपके महान लेखक करते रहे हैं, तो निःसंदेह आप बहुत जल्द दोनों शैलियों को आपस में मिला सकते हैं, और उन्हें फिर से जनता की बोलचाल की भाषा और मुहावरे में ढाल सकते हैं। इस प्रकार आप भारतीय परिवार की अन्य भाषाओं के साथ आदान-प्रदान कायम कर सकते हैं। आप खुद भी समृद्ध बन सकते हैं, उन्हें भी समृद्धि प्रदान कर सकते हैं। आपका शब्द-भंडार तुलसी और गालिब दोनों को अपने अन्दर समेटकर बाकी सारी भारतीय भाषाओं की नजर में एक अनोखी विराट और शक्तिशाली भाषा का स्थान ग्रहण कर सकता है। आपके शहर - दिल्ली, आगरा, लखनऊ और बनारस - इस दौर में भी वही शान हासिल कर सकते हैं, जो उन्होंने अकबर, शाहजहाँ, तुलसी और कबीर के जमानों में हासिल की थी। आप भारत माता की कंठमाला का सबसे कीमती मोती हैं। अपने घर से साम्प्रदायिक वैर-विरोध दूर करके आप भारत के इतिहास को एक नया मोड़ दे सकते हैं, उसे

एकता और सच्ची आजादी की ओर ले जा सकते हैं।

लेकिन अगर आप नहीं सम्भलेंगे तो नीम-मुर्दा साम्राज्यवादी नीतियों को, आजादी के युग में भी जिन्दा रखने का इल्जाम आपके सिर आयेगा। देश में जो नफरतों का जहर बढ़ता जा रहा है, वह और बढ़ जायेगा, गाँधी, नेहरू, सुभाष बोस और उनके असंख्य साथियों की कुरबानी अंधे कुएँ में पड़ जायेगी।

मैं जानता हूँ कि सज्जाद जहीर और कृशनचंदर जैसे प्रगतिशील लेखक किसी हालत में भी उर्दू के सवाल को साम्प्रदायिक राजनीति के साथ जोड़ना नहीं चाहते; लेकिन अपने घर से जबर्दस्ती बेघर की गयी इस भाषा को, जिसकी उन्होंने सारी उम्र सेवा की है, कहीं न कहीं सिर छिपाने के लिए जगह ढूँढकर देना वे अपना फर्ज समझते हैं। आपके ठंडे रूखे रवैये की प्रतिक्रिया में वे भी भारी गलतियाँ कर बैठते हैं। उर्दू-कन्वेंशन करने के लिए उन्हें महाराष्ट्र भागना पड़ता है। उत्तर प्रदेश में दाल गलती न देखकर वे उर्दू को अन्य प्रांतों से दूसरे नंबर की प्रांतीय भाषा बनवाने की उपहासजनक और मूर्खतापूर्ण कोशिशें करते हैं। मैं उनकी सख्त आलोचना करता हुआ भी, उनके दिल के दुख और मजबूरी को समझ सकता हूँ।

लेकिन फिर भी, मैं उन्हें माफ नहीं कर सकता। आपकी तरह उन्हें भी अपनी बंद की हुई आँख खोलने की जरूरत है। उन्हें भी उर्दू सम्बन्धी अपनी इकहरी, अधूरी, सामन्तशाही और फारसी परस्त परिभाषाएँ छोड़ने की जरूरत है। तभी, वे भी अपने व्यक्तिगत छोटे-छोटे हितों के संकुचित घेरे में से निकल कर देशहित को गर्क होने से बचा सकेंगे। जिन प्रांतों की मातृभाषा उर्दू नहीं है, उनमें उर्दू को हक मनवाने की कोशिश करना, उर्दू को मुस्लिम अल्पसंख्या से जोड़ना है। अगर उर्दू पंजाबियों या बंगालियों की भाषा नहीं है, तो वह मराठों, गुजरातियों, तेलगुओं, तमिलों और केरलियों की भी भाषा नहीं हो सकती, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान। इन प्रांतों के मुसलमानों का कल्याण इसी में है कि वे अपनी मातृभाषा के साथ प्यार करें, जितना बंग्लादेश के बंगाली को अपनी मातृभाषा से है। अगर वे ऐसा नहीं करेंगे, तो हिन्दू सम्प्रदायवादियों को साफ तौर पर यह कहने का बहाना मिलेगा कि मुसलमान अभी तक उर्दू को मिस्टर जिन्ना के दृष्टिकोण से देखते हैं और खुद को एक अलग कौम समझते हैं। इस तरह नफरतें बढ़ेंगी, जिनके भयानक नतीजों की ओर से लापरवाह होकर कोई भी व्यक्ति लेखक या साहित्यकार कहलाने का हकदार नहीं रहता। उर्दू का जन्मसिद्ध अधिकार उसे उत्तर प्रदेश में जरूर मिलना चाहिए; क्योंकि वह यहाँ की मातृभाषा है। उत्तर प्रदेश में निस्संदेह उर्दू को हिन्दी के बराबर का स्थान मिलना चाहिए। इस बात से कोई न्यायशील व्यक्ति इनकार नहीं कर

सकता। उर्दू-हिन्दी का आपस में कोई फर्क नहीं है और कोई बैर नहीं है। वह दो लिपियों में लिखी जानेवाली एक भाषा है- उसी तरह, जैसे पंजाबी। दोनों शैलियों को एक-दूसरी के निकट लाने के लिए उत्तर प्रदेश के सभी देशभक्त, लोकवादी, प्रगतिशील लेखकों को प्यार-मोहब्बत से मिल-बैठकर सोच-विचार करना चाहिए, क्योंकि यह इनकी कौमी इज्जत और गैरत का सवाल है। यह उनके घर का अंदरूनी मामला है। उत्तर प्रदेश के बाहर के हिन्दी-उर्दू के लेखकों को इस झगड़े से अलग हो जाना चाहिए-- किसी हमदर्द लेकिन चुप मेहमान की तरह। तभी उत्तर प्रदेश वाले अपनी गाड़ी को इस कीचड़ में से खींचकर निकाल सकेंगे जिसमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने उसे आज से सौ साल पहले फँसा दिया था। उत्तर प्रदेश में जब प्यार और इंसाफ की गंगा बहेगी तो सारे देश का वातावरण सुधरेगा, क्योंकि वहीं की भाषा को एक दिन भारत की राष्ट्रभाषा बनने का कठिन और महान रोल अदा करना होगा। यह रोल और कोई भाषा अदा नहीं कर सकती। लेकिन आज उस मंजिल तक पहुँचने के लिए हिन्दी-उर्दू को बड़ी कठिन तपस्या करनी होगी। गुरुकुलों और गऊशालाओं वाली तपस्या नहीं, बल्कि अणु-युग की सामाजिक और तकनीकी जरूरतों को समझने की तपस्या। इस बड़े मोर्चे पर हिन्दी का मुकाबला अंग्रेजी के साथ है, किसी छोटे-मोटे पहलवान के साथ नहीं। केवल संस्कृत का शब्द-कोश हाथ में लेकर यह मोर्चा जीता नहीं जा सकेगा। वह तो उस प्रकार की खुशफहमी होगी, जिसके शिकार मेरे गुरुकुल के आचार्य जी थे, जो अष्टाध्यायी के सूत्र रटवाते समय हमें बताया करते थे कि किस प्रकार जर्मन लोग भारतवर्ष में से वेद चुराकर ले गये, और उनमें से रेल, इंजन, हवाई जहाज, रेडियो और अन्य कई प्रकार के यंत्रों का ज्ञान निकालकर यूरोप के देशों में बेच दिया।

(यह आलेख दिल्ली के एक प्रेस से 1972 में पुस्तिका की शक्ल में प्रकाशित हुआ था।)

...अंग्रेजों ने दो सौ वर्ष तक हिन्दुस्तान पर राज किया। इस दौर को हम भारतीय इतिहास का 'ईसाई युग' नहीं कहते 'ब्रिटिश' युग कहते हैं। और यह ठीक भी है। राज्य कायम करने के प्रयत्न, फ्रांस, हॉलैंड और पुर्तगाल के लोगों ने भी किये और वे भी ईसाई थे। इसलिए 'ब्रिटिश' युग कहना ही ठीक है वरना इतिहास का चेहरा धुँधला पड़ जायेगा।

इसी प्रकार, भारतीय इतिहास को सिरे से 'हिन्दूकाल' और 'मुस्लिमकाल' में बाँट देना भी उसके चेहरे को धुँधला करता है, वहम और द्वेष के कीटाणुओं को जन्म देता है।

इतिहास केवल राजाओं-महाराजाओं की लड़ाइयों और प्रेमकथाओं का वर्णन नहीं होता। उसे समझने के लिए आर्थिक और सामाजिक असलियत की गहराई तक पहुँचने की जरूरत है। यद्यपि राजनीतिक दृष्टिकोण से भारतीय मध्यकाल भी, यूरोप के मध्यकाल की भाँति, रक्तपात, बर्बरता और शासकों की निरंकुशता का समय रहा है, लेकिन कला-कौशल और साहित्य के दृष्टिकोण से वह एक निरन्तर प्रगति और विकास का दौर रहा है।...

संभव प्रकाशन

संभव

मूल्य : 30 रुपये